Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 14 अंक 2

जुलाई 2000

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण

रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 14 अंक 2 जुलाई, 2000

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाणमासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण

रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संपादन-सहयोगी

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. दयाकृष्ण, बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302015
3. रमेशचन्द्र शाह, निदेशक-निराला सृजन-पीठ, सी-165/1, प्रोफेसर कालोनी, भोपाल- 462002
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली - 110011

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
   दूरभाष 515693
2. मुकुन्द लाठ, ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006
   दूरभाष 213737 / 211725

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 40/-
संस्थाएं — रु. 60/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 300/-
संस्थाएं — रु. 3000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेज़र कंपोजिंग तथा कमल प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय-सूची

1. धर्म और नीति : मानव-कर्म के सन्दर्भ में : उपाय-विचार :	मुकुन्द लाठ	77
2. प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध-विचार	यशदेव शल्य	99
3. अनुमान की अवधारणा एवं सन्देहवादी चुनौतियाँ	अम्बिकादत्त शर्मा	107
4. साहित्य और संस्कृति	रामेश्वरप्रसाद मिश्र (पंकज)	119
5. अध्यास : एक टिप्पणी	नारायण शास्त्री द्राविड़	128
समीक्षा-लेख		
6. 'फाउस्ट' के अनुयायियों को एक नए बीजक का नचिकेता-आह्वान	रमेशचन्द्र शाह	131
7. न्यायशस्त्रीयविचारपद्धत्या देहात्मवादस्य सम्भावना	बदरीनाथशुक्लः	146
8. आचार्यबदरीनाथशुक्लाभिमतनव्यदेहात्मवादपरीक्षणम्	राजाराम शुक्लः	159

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्म और नीति : मानव-कर्म के सन्दर्भ में : उपाय-विचार :

मुकुन्द लाठ

एक सिंहावलोकन जैसी दृष्टि से पिछले दो लेखों को कुछ समेटता हुआ, उनके भाव को बढ़ाता हुआ आगे बढ़ूँगा।

भोग का अनुभव बड़ा निबिड़ होता है। पर मानो विषयमय होता है। भोक्तृत्व में चेतना की तो अनुभूति होती है—नहीं तो भोग ही क्या, पर आत्मचेतना की वहाँ बात बनती नहीं लगती, अगर आत्मचेतना का अर्थ चेतना की विषय से स्वतन्त्र स्थिति है—वैसी आत्मस्थिति जहाँ विषय से चेतना की अपनी स्वतन्त्र अनुभूति होती है। यह भोग में अनहोनी सी लगती है। यही हो तो विषय का भोग क्या, वह तो विषय को देखने या उसे लेकर कुछ करने जैसी ही बात होगी! यह ज्ञान और कर्म की स्थिति है, जहाँ भोग से उनका प्रकट भेद है। पर भोक्तृत्व विषय-निमज्जन का तारतम्य है। यह भोक्तृत्व की ही एक और भूमि की ओर स्पष्ट जाता दिखता है, जहाँ चेतना - आत्मचेतना - अपेक्षाकृत आत्मस्थ और स्वतन्त्र बोध में जाग्रत दिखती है। जैसे जब वह भोजन और गंध की इन्द्रिय-रुचि नहीं, शिल्प और काव्य का आत्मचेतन रस साधती है। एक स्वातन्त्र्य रुचि-साधना में भी होता है। वह भी साधना है तो आत्मचेतन व्यापार ही। औचित्य की बात वहाँ भी हो सकती है। पर औचित्य वहाँ जैसे परतन्त्र है। वहाँ निकष इन्द्रिय रहती है—इन्द्रिय की भोगवृत्ति को साक्षी रखकर वहाँ साध्य परखा जाता है कि ठीक बना कि नहीं। गन्ध, स्पर्श, रसना की निर्मितियों में यही होता है। रूप और नाद का ग्रहण भी इन्द्रियों से ही होता है—इन्द्रियों के बिना इनके शिल्पों की हम कल्पना नहीं कर सकते। पर रूप और नाद की निर्मितियों में इन्द्रिय संकेत ग्रहण करती है—भोग वहाँ सूक्ष्म हो जाता है—इन्द्रिय निकष नहीं रहती। एक ऊर्ध्वतर आत्मचेतना निकष हो जाती है। औचित्य-बोध इन्द्रियों को सहारा बना कर अपने स्वतन्त्र धरातल पर स्थित हो जाता है। रुचि के औचित्य में साधना जहाँ इन्द्रिय-मुखी होती है वहाँ रस में औचित्य-बोध जैसे इन्द्रिय के भीतर से भी इन्द्रिय के परे देखता है। वहाँ भोक्तृत्व-साधना इन्द्रिय-विषय में डुबकी लगा कर विषय-सलिल के पार किसी आकाश में पंख फैलाती दिखती है। वहाँ इन्द्रिय-विषय ऐन्द्रिक नहीं रहता, प्रतीक हो जाता है। प्रतीक का ग्रहण आत्मचेतना ही करती है। एक आयाम यहाँ जुड़ जाता है। साधना सार्थकता की साधना हो जाती है। औचित्य के स्वातन्त्र्य का यही लक्ष्य है। अर्थ की साधना—जो सत्य शिव सुन्दर जैसे पुरुषार्थों को समोती है। विभिन्न इन्द्रियों और उनकी वृत्तियों के बीच यह भेद मुझे कोटिभेद या तत्त्वभेद जैसा लगता है, हालांकि मैंने ऐसा कहा नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में भी बोध के ऐसे तारतम्य उजागर हैं। अध्यवसाय को लीजिये। अगर अध्यवसाय मात्र को हम ज्ञान या कर्म मानें—'सामने मेज़ है', 'मैं गा रहा हूँ'। ऐसे अध्यवसाय में आत्मचेतना परोक्ष भी हो सकती है—उसे सोच कर सामने लाना पड़ता है। विचार में वह स्फुट होती है : संशय, प्रश्न, लक्षण, परीक्षा के साथ ऊहापोह करने में। वहाँ चेतना के अपने द्रष्टा-भाव और विवेक के साथ आत्मचेतना अपरोक्ष होती है। विचार विषय और अपने विषय-विमर्श दोनों के प्रति आत्मचेतन रहता है; विचार स्वयं विषय हो तो बात और भी प्रकट होती है।

सच पूछिये तो हमारी चेतना सहज ही आत्मचेतन होती है—चाहे चेतना का आत्मबोध कुछ अपेक्षया परोक्ष-अपरोक्ष होता रहे। पर बात केवल परोक्ष-अपरोक्ष होने की ही नहीं होती है। विचार की स्थिति में हम पाते हैं कि आत्मचेतना का एक और भेद है जिसे स्तर-भेद कहना अनुचित न होगा। क्योंकि भेद स्वातन्त्र्य का है—अपने भीतर रह कर अपनी तरह, अपने विवेक से, अपने औचित्यबोध से चल पाना—यह इस भेद का लक्षण है। कुछ स्थितियों में यह अस्फुट होता है तो दूसरी स्थितियों में स्पष्ट ही अधिक स्फुट। अध्यवसाय और विचार में ही भेद खुल कर सामने आ जाता है। अध्यवसाय में तो हम यह भेद करते ही चलते हैं—यह मेज़ है, यह कुर्सी है, यह कविता है, यह दर्शन है, यह गाना है, यह फलाना है, यह ढिमका है, चेतना यह निर्णय करती ही चलती है—अभ्यस्त सी करती चलती है, बिन सोचे। अब इसे 'अध्यवसाय' कहिये या कुछ और, इसकी स्थिति या गति कहिये, उससे हम परिचित ही हैं। विचार में बात एकदम से बदल जाती है। कर्म में भी हम यों ही एक प्रवाह में कुछ करते चलते हैं। वहाँ यह बोध—आत्म-बोध—कि यह कर रहा हूँ, वह कर रहा हूँ, जिसे अध्यवसाय कह सकते हैं, वह कुछ और भी ओझल सा रहता है, जैसे ओट में हो जाता हो। पर कुछ भी हमें ठिठका दे सकता है, बाहर की ठोकर या भीतर का विचार, और हम चौकन्ने हो जाते हैं, प्रवाह से सर निकालते हैं और सोचते हैं कि हम कर क्या रहे हैं—और इससे आगे बढ़ कर : कैसे कर रहे हैं, क्यों कर रहे हैं? अव इस सन्दर्भ में भोग को देखिये। भोग ज्ञान और कर्म से इस बात में भिन्न है कि वहाँ हम अक्सर चाहते ही चेतना या आत्मचेतना का विलय हैं। भोग साधने का, विषयभोग में डूबने का प्रयोजन ही नहीं होता है। आत्मचेतन हो कर भी हम भोग साधते हैं तो चाहते अनात्मचेतन हो जाना ही हैं—चेतना के विवेक की छेड़छाड़ से, कौंध से, टीस से, जकड़ाव से मुक्ति चाहते हैं। पर, हाँ, हमारे भोक्तृत्व का सम्बन्ध भोग के केवल उसी आयाम से नहीं है जहाँ हम आत्म-विस्मृति के कौशल ढूँढते हैं, एक गहरे अर्थ में हमारे अनुभवमात्र की धरती हमारा भोक्तृत्व है—हमारे सुख-दुःख का संसार। पीड़ा, यातना, चिन्ता, सोच, शोक, आतंक, भय—ये भी भोक्तृत्व के पक्ष हैं। इन्हें हम भुगतते हैं। इनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

अपने इन लेखों में मेरा प्रयोजन भोक्तृत्व के बहाने कर्तृत्व की कुछ थाह लेना है। जैसा कि पहले लेख में कह आया हूँ, मैं कर्म को व्यावृत्ति या अपोह के मार्ग से पकड़ना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चाहता हूँ। इसलिए मैंने बात का आरम्भ ही कर्म को एक बहुत व्यापक अर्थ दे कर किया था। प्रवृत्ति मात्र को कर्म कहा था जो चेतना के सभी व्यापारों में व्याप्त है, जिन्हें हम साधारणतया 'कर्म' का नाम नहीं देते। मैंने यह भी कहा था कि हम प्रवृत्ति मात्र में औचित्य की खोज करते हैं—यह हमारी आत्मचेतना और उसमें निहित स्वातन्त्र्य का स्वभाव है। इससे 'औचित्य' शब्द में भी एक अर्थ-विस्तार आता है—इस विस्तार को मैंने उचित एवं प्रयोग की दृष्टि से वैध ठहराया था। पर प्रवृत्ति मात्र में औचित्य का अर्थ क्या? 'व्यापार मात्र में औचित्य' यह अर्थ तो नहीं ही हो सकता है। कर्म और क्रिया में तत्त्वभेद जैसा भेद होता है, हालांकि दोनों ही 'व्यापार' कहलाते हैं। जिस कार्य-कारण प्रवाह में क्रिया होती है वहाँ, मैंने या किसी ने ऐसा क्यों किया, यह प्रश्न नहीं उठता। उठाया जाये तो विचार के अभिप्राय की भूमि और होती है : जगत् के होने और गतिशील होने का ही औचित्य क्या? कई लोग ऐसे प्रश्नों को निकम्मा या अतिप्रश्न ठहराते हैं। मैं नहीं ठहराता। पर इस पर कोई विचार मैं अपने विमर्श में नहीं कर रहा हूँ। सम्भव है (और मैं समझता हूँ कि सम्भव होना भी चाहिये कि जगत् की संसृति के औचित्य का—जिसे ऋत जैसा कोई नाम दिया जा सकं उसका, हमारी प्रवृत्तियों के औचित्य से सम्बन्ध हो। और यों किसी अगाध में उतर कर क्रिया और कर्म दोनों के 'औचित्य' में कोई एकतार सम्बन्ध हो। पर इस अगाध में मैं पैठ भी सकूं तो यहाँ इन लेखों में उसका इरादा नहीं है। यहाँ मैंने या किसी ने ऐसा क्यों किया, औचित्य के ऐसे आत्मचेतन प्रश्नों को ही ध्यान में रख कर क्रिया और कर्म में मैंने तत्त्वभेद - कोटिभेद - किया है। पहले लेख में यहीं से कर्म की व्यावृत्ति की पहल की है। इच्छा को मैंने क्रिया की कोटि में रखा है।

पर एक बात है। कर्म का तत्त्व—या कोटि—क्रिया से भिन्न है, लेकिन कर्म का निष्पादन क्रिया की अपेक्षा रखता है। निष्पादन में कर्म को उपेय कहें तो क्रिया को उपाय कह सकते हैं। उपाय क्रियामात्र से भिन्न है। वह स्वतन्त्र कर्त्ता द्वारा की गई क्रिया है, क्रियामात्र नहीं। यह बात कर्म के साधारण अर्थ पर ही नहीं कर्म के व्यापक अर्थ पर भी पूरी उतरती है। 'उपाय' का एक अपना क्षेत्र बनता है, जिसका एक अपना अलग तन्त्र भी उभरता है। यन्त्र का उदाहरण मैं ले चुका हूँ। भाषा का दृष्टान्त भी लीजिये, जहाँ कहने वाले की और कहने की इच्छा की—विवक्षा की—अपेक्षा होती है। विवक्षा के साथ औचित्य का प्रश्न अपने आप उठता है। पर देखिये (कुछ यन्त्र ही की तरह) दो भिन्न स्तरों पर उठता है : एक तो भाषा-प्रयोग का औचित्य, जो व्याकरण का क्षेत्र है, दूसरा उक्ति का, अर्थ का, कही हुई बात का औचित्य। इसके कई क्षेत्र हो सकते हैं : व्यवहार, विचार, ज्ञान, कविता . . .। औचित्य-भेद भी सामने आता ही है। बल्कि हम चाहें तो कह सकते हैं कि औचित्य-भेद से ही विवक्षा के अर्थ-भेद बनते हैं। साधारण अर्थ में जिसे कर्म कहते हैं वह कर्म के औचित्य का क्षेत्र है।

यह 'नैतिकता' का क्षेत्र कहलाता है, मैं इसे 'धर्म' का क्षेत्र कहना ज़्यादा ठीक समझता हूँ। इसलिए भी कि धर्म और नीति के विरोध की चर्चा करना चाहता हूँ। नीति में उपाय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के क्षेत्र का अपना स्वातन्त्र्य उभर कर आता है, जो धर्म-विमुख ही नहीं, आसुरी हठ के साथ धर्म-विरोधी भी हो सकता है। भाषा का स्वातन्त्र्य हमें खलता नहीं, हम उसे कविता का द्वार भी बना लेते हैं। पर भाषा भी कर्म का अंग हो सकती है। झूठ या मोह के प्रचार का माध्यम हो सकती है। यों धर्म के क्षेत्र में उपाय का स्वातन्त्र्य विभीषका बन सकता है। विज्ञान से उपहार में मिला आज का उपाय-विस्तार भी इसका साक्षी है। पर कर्म में क्या उपाय का कोई कविता सदृश मार्ग नहीं बनता? जहाँ उपाय पिघल कर उपेय में घुल जाये! मैं समझता हूँ, बनता है, और उस दिशा में चर्चा को बढ़ाऊँगा।

धर्म और नीति के भेद को कई तरह से उभारा जा सकता है। निष्पाद्य धर्म के पक्ष से ही नहीं, निष्पादन या उपाय के पक्ष से भी उभारा जा सकता है। कहना न होगा निष्पादन कर्त्ता के स्वातन्त्र्य की माँग करता है (इस पर हम चर्चा कर भी आये हैं); पर साथ ही यह भी सवाल उठता है कि कर्त्ता का निष्पादन से सम्बन्ध क्या? यह विचार के लिए एक टेढ़ा सवाल रहा है। आत्मचेतना के 'सूक्ष्म' स्वातन्त्र्य का व्यवहार-जगत् के 'स्थूल' कार्य-कारण भाव से सम्बन्ध ही कैसा? और बात वास्तव में स्थूल-सूक्ष्म की नहीं है—यह तो अनुभवों में भेद करने का एक मोटा सा रास्ता है। बात की तह में एक गहन कोटि-भेद है जहाँ दो कोटियों का सम्बन्ध ही सम्भावना-बाहर सा उभर कर आता है : इसे अन्तर और बाह्य का सम्बन्ध कहिये, या चेतन और जड़ का, या शरीर और मन का, या कारण-कार्य से स्वतन्त्र आंतर जगत् (जैसे शिव संकल्प) और कार्य-कारण परतन्त्र बाह्य घटना-जगत् का सम्बन्ध कहिये, द्वैत को कैसे भी आँकिये, एक पहेली सी जागती है कि ऐसे दो भिन्न पदार्थों में सम्बन्ध बन ही कैसे सकता है? स्वातन्त्र्य का अर्थ ही है कार्य-कारण से विमुक्ति, वह कार्यकारणबद्ध के स्पर्श में आ ही कैसे सकता है? विषम पहेली है। पर साथ ही बड़ी विचित्र भी है। विचार के लिए ही पहेली है, व्यवहार में तो शरीर और मन का सम्बन्ध अनुपल साक्षात् होता ही है (नहीं तो मैं यह वाक्य ही नहीं लिख पाता)। दर्शन में भी पहेली सब दार्शनिक दृष्टियों के लिए नहीं है। साँख्य के लिए यह कोई पहेली नहीं है। अभी मैं अभिधम्म में उतरने की चेष्टा कर रहा था—वहाँ भी यह वैसी पहेली नहीं लगती। जो भी हो, विचार तो इसका सामना किये बिना नहीं मानता। मैं भी अपनी तरह से बाहर-भीतर के इस द्वैत को सामने लाऊँगा और अपनी कर्म-चर्चा का अंग बनाऊँगा। मैं समझता हूँ कि कर्म-विचार में यह द्वैत और भी द्विस्वभाव हो कर उभरता है। पर एक बात है : बात यहाँ दो परस्पर प्रतीप तत्त्वों की नहीं कर के तीन की बात करनी चाहिये। हमने देखा कि स्वतन्त्र आत्मचेतना और बाहर का नितान्त बाह्य कहा जाने वाला जड़ या भौतिक जगत्, इनके बीच एक जगत् बनता है, उपाय का जगत्, जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कुछ विस्तार से उभारूँगा। भाषा का व्याकरण होता है, विचार की युक्ति, नृत्त का करण। और भी गहराई में उतरिये तो हमारा सारा व्यवहार-लोक—या प्रवृत्ति-लोक कहना अधिक उचित होगा—इसकी समस्त अभिव्यक्तियों को भी बाहर और भीतर के बीच का मध्य-लोक कह सकते हैं। ये सब उपाय चाहती हैं। ये लोक एक नहीं हैं, कई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं। इन उपाय-लोकों के उपेय भिन्न हैं। क्या उपेय हो यह प्रश्न हर लोक में केवल विचार-बुद्धि को ही नहीं हमारी सम्पूर्ण सत्ता को पकड़ता है। क्योंकि अपनी हर प्रवृत्ति में रहते हम उपाय के लोक में ही हैं। यह भी प्रश्न अक्सर जागता है कि क्या प्रवृत्ति-मात्र का कोई एक उपेय नहीं—क्योंकि प्रश्न है, मनुष्य का उपेय क्या है? प्रश्न में अथाह की पहेली उभर कर आती है। पर एक ही उपेय हो तो उपाय-भेद भी वास्तव भेद नहीं रहेगा। यह 'आत्यन्तिक' प्रश्न है, इसमें यहाँ नहीं जाऊँगा, पर उपाय-लोक के आकलन के लिए कुछ आत्यन्तिक कोटियों की चर्चा आगे करूँगा।

यह प्रश्न अपेक्षया सीमित या परिधि-कृत उपायों के लिए हो जैसे नृत्त का करण, संगीत का स्वर, चित्र के वर्ण, या चलिए भाषा भी—तो उत्तर भी अपेक्षया निर्धार्य सा हो सकता है—हालांकि ऐसा कहते ही सौ सवाल सर उठाते हैं। 'व्यवहार' शब्द का ऊपर जो मैंने अर्थ-विस्तार किया वह प्रयोग में—विशेष कर दार्शनिकों के प्रयोग में—स्वीकृत है। पर 'व्यवहार' शब्द का एक लौकिक, प्रचलित सा अर्थ भी है—व्यवहार-लोक, या जिसे 'लोक' भी कह देते हैं—मानव-समाज का ही दूसरा नाम है, जिस लोक में हम दूसरों के बीच रहते हुए अन्य प्रवृत्तियाँ साधते हैं। धर्म का—और यों कर्म का—कर्म का प्रश्न इस लोक के साथ गहराई से जुड़ा है। धर्म को धारक कहा जाता है तो इसी लोक का धारक कहा जाता है। अवतार, जो 'लोक-संग्रही' हैं, इसी लोक के अपने औचित्य को साधते हैं। इस लोक के विषय में यह प्रश्न हो कि इसका उपेय क्या हो, यह कर्म की व्यावृत्ति का भी प्रश्न होगा। सोच कर देखिये तो हर अर्थ में लोक के उपेय का प्रश्न मनुष्य की हर प्रवृत्ति को अपने वलय में घेरता है। कर्म का प्रश्न 'मैं क्या करूँ', अपने किये का उपेय क्या रखूं, यह व्यक्तिगत प्रश्न भी कभी 'व्यवहार-लोक कैसा हो' इस प्रश्न के अनुषंग को हटा नहीं सकता—चाहे कर्म को हम प्रवृत्ति मात्र के साथ जोड़ें, जैसा कि मैंने किया है। कर्म को हम अगर सीमित, व्यावृत्त रूप में लें, तो कह सकते हैं कि उसका उपाय—उसका माध्यम—व्यवहार है और उपेय या साध्य, धर्म, व्यवहार-लोक के अपने औचित्य की साधना। स्मृतियों में धर्म के अन्तर्गत समाज के सभी पक्ष आ जाते हैं—संस्कार, शिक्षा, कानून, राज्य, राज-नीति, समाज-व्यवंस्था, ये व्यवहार के क्षेत्र की ही परिधि बनाते हैं। व्यवहार के साध्य के रूप में धर्म सतयुग का सपना देखता रहा है, जहाँ व्यवहार में अनायास सामंजस्य हो, और मनुष्य-मनुष्य के बीच सहज परस्पर भाव की स्वच्छ गति। जो दूसरी प्रवृत्तियों को सहज सुघर सा घर दे। मैं यहाँ जानबूझ कर 'सहज' शब्द को यों दुहरा रहा हूँ कि कर्म में सहज की धारणा को आगे बढ़ाऊँगा। इस रास्ते कला-जगत् में - और यों नृत्त में - प्रवेश का मार्ग भी प्रशस्त होगा। पिछले लेख में जो मैंने आत्मचेतना के ऐसे स्तर या स्थान को उभारने की चेष्टा की थी जहाँ कि आत्मचेतना का स्वतन्त्र-भाव हम अपने भोक्तृत्व में ही देख सकते हैं वहाँ एक अभिप्राय यह भी था कि 'कला', 'रस', इन धारणाओं के माध्यम से चर्चा में ऐसे चिन्तन का आँगन खुले जहाँ 'सहज' की बात की ओर एक स्वाभाविक सी उन्मुखता बने।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भोक्तृत्व की चर्चा में मैंने इन्द्रियों के बीच एक ऐसे भेद को कुछ विस्तार दिया जिसे भोगेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय का भेद कह सकते हैं : एक ओर स्पर्शेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय और दूसरी ओर दर्शनेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय। श्रवणेन्द्रिय बड़ी विचित्र इन्द्रिय है। दूसरी इन्द्रियाँ ठोस कुछ दिखाती हैं। या ठोस कहना शायद अटपटा लग सकता है, या ज़्यादा ही मोटी बात। हम यह कह सकते हैं कि दूसरी इन्द्रियों के अनुभव में हमें लगता है कि किसी पदार्थ का ज्ञान हुआ, ऐसा कुछ 'पकड़ में' आया जिसे 'द्रव्य' जैसा नाम देना स्वाभाविक जान पड़ता है। कुछ होने जैसा वहाँ है जिसे छू, देख, सूंघ सकते हैं हम। सुनने में ऐसा नहीं होता। हम ध्वनि सुनते हैं, स्वर सुनते हैं। 'सितार' सुनने का वैसा अर्थ नहीं होता जैसा सितार छूने, देखने या सूंघने का, अगर कोई सितार को सूंघ कर जानना भी चाहे। देखने, छूने, सूंघने में बोध यह रहता है कि सितार से हमारा सीधा, साक्षात् सम्पर्क हो रहा है। सितार सुनने में सितार का वैसा बोध नहीं होता। 'सितार देखना' अभिधा है, 'सितार सुनना' यह मुहावरा भी लगने को वैसा ही लगता है, पर यहाँ लक्षणा का प्रवेश है। सितार 'सुना' नहीं जा सकता, सितार पर ऐसी क्रिया की जा सकती है कि स्वर उभरे, जो कि सुना जा सकता है। ध्वनि का द्रव्य से सम्बन्ध परोक्ष है। परम्परया है, सीधा नहीं। सुनने की यह विलक्षणता वैशेषिक एवं दूसरे विज्ञान-प्रवण दर्शनों ने साफ उभारी है। श्रवणेन्द्रिय के विषय में प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या उसे ज्ञानेन्द्रिय कहना उचित है? काहे का ज्ञान कराती है श्रवणेन्द्रिय? शब्द और स्वर का। पर भाषा के अर्थ में शब्द लें तो उसका 'होना' ही बेढब सा होना है। ध्वनि के अर्थ में शब्द लें तो भी होने का एक जटिल सा अर्थ ही निकलता दिखता है। क्योंकि ध्वनि प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ग्राह्य तो है पर 'द्रव्य' जैसा कुछ नहीं है। पुराने लोग ध्वनि को आकाश का 'गुण' कहते थे। पर इस कहने में ही एक पहेली का बोध निहित है : आकाश का ही क्या होना, फिर उसका गुण क्या? ध्वनि को तरंग कहिये तो भी दूसरी इन्द्रियों से जैसे 'होने' का परिचय मिलता है, यहाँ बात उससे अलग ही ठहरती है। फिर ध्वनि में अन्तर्निहित स्वर की बात करें तो मामला और टेढ़ा हो जाता है।

पर श्रवणेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय हो या न हो (या किसी विशेष अर्थ में हो भी क्योंकि वह स्वर का 'ज्ञान' कराती है) तो भी उसे ज्ञानेन्द्रिय कहने में एक दुविधा का बोध होता है। भोगेन्द्रिय कहने में वैसा दुविधा-बोध नहीं होता। स्वर की हम बात न भी करें तो भी ध्वनियाँ स्वभाव से ही मधुर, कर्कश, तरल, तीखी—होती हैं। लग सकता है, श्रवणेन्द्रिय में तो और उजागर लगता है, कि इन्द्रियों के लिए भोग ही स्वयं है, ज्ञान नहीं। ज्ञान ऐसी चेतना की माँग करता है जो इन्द्रियों से उन्मुक्त हो। जैसा कि शायद कह भी आया हूँ, इन्द्रियाँ प्राण से जितनी घनिष्ठ उभरती हैं चेतना से उतनी नहीं। पर कर्मेन्द्रियाँ? ये क्या हैं? क्या सचमुच कर्मेन्द्रिय जैसी कोई इन्द्रिय होती भी है? 'इन्द्रिय' का अर्थ अगर 'बाह्य-विषय के ग्रहण का उपकरण या साधन' है—चाहे ज्ञान में हो या भोग में—तो कर्मेन्द्रिय की बात वृथा है। फिर यह भी सोचिये कि इन्द्रिय की धारणा सब कहीं मिलती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है, कर्मेन्द्रिय की धारणा हमारी ही परमपरा में है; अन्यत्र हो भी तो क्षीण, उथली सी ही होगी। हमारे यहाँ तो कर्मेन्द्रियों के बीच भी भेद किया गया है, उनकी कोटियाँ बनाई गई हैं, सूचियाँ मिलती हैं। इन सूचियों को देखें तो एक प्रश्न दुर्निवार लगता है : माना कि कर्मेन्द्रिय जैसी कोई वस्तु है, जिसके लिए 'इन्द्रिय' शब्द किसी रूप में सार्थक है, तो भी क्या यहाँ वैसा कोई सार्थक भेद हो सकता है जो ज्ञान या भोग में हम इन्द्रियों के बीच अनायास ही करते हैं? हमारे अनुभव में इन इन्द्रियों का जैसे अलग ही लोक होता है—इन्द्रयान्तर-व्यावृत्त—तभी विचार के लिए गहरा प्रश्न बना रहता है कि क्या भिन्न इन्द्रियों से हम 'उसी' एक पदार्थ का ग्रहण करते हैं? या एक अभिन्न वस्तु का ग्रहण इन्द्रियाँ नहीं कुछ और करता है? जैसे 'मन'? फिर मन का इन्द्रिय से क्या सम्बन्ध है? क्या वह भी इन्द्रिय है? अन्तरिन्द्रिय? ऐसे प्रश्नों पर हमारे यहाँ प्रचुर विचार हुआ है। पर विचारकों ने कर्मेन्द्रियों पर वैसा कोई सूक्ष्म विमर्श नहीं किया है—कर्मेन्द्रियों की (जहाँ तक मैं समझता हूँ) उपेक्षा ही की है। कह ही आया हूँ, उनको इन्द्रिय कहना ही विसंगत लगता है। दार्शनिक कह सकते हैं कि यह लौकिक जनों की निर्विचार धारणा है, परीक्षकों की नहीं। अविचारित-रमणीय भी नहीं जान पड़ती।

पर मैं नहीं समझता कि धारणा तुच्छ या निरर्थक है। कर्मेन्द्रियों की कोई अर्थवह सूची बन सकती है या नहीं, इनमें कोई भेद सा भेद उभारा भी जा सकता है या नहीं; यह प्रश्न निकम्मा सा ही प्रश्न हो, पर कर्मेन्द्रिय की धारणा केवल अन्ध-परम्परा की बात नहीं है, उसमें सूझ है। यह तो ठीक है कि कर्मेन्द्रिय ग्रहण का माध्यम नहीं होती—फूल को आगे बढ़ कर उंगलियों से चुन लेना, इसे हम 'ग्रहण' कह भी दें तो भी यह ग्रहण की भूमिका ही होती है। ग्रहण ज्ञान-उन्मुख होता है—हम देख कर, सूंघ कर फूल को 'जानते' हैं। फूल चुनना स्थूल अर्थ में ही फूल का ग्रहण है। आन्तर व्यापार का बाह्य, अवान्तर साधन। कर्मेन्द्रिय की वह 'पकड़' नहीं होती जिसे हम ज्ञान से जोड़ते हैं—अब वह ज्ञान चाहे सविकल्प हो या निर्विकल्प, आत्मचेतन हो या पकड़ा-भर-हुआ बोध मात्र, जो बाद में, शब्द-चेतना में, उजागर होता है।

पर बोध से जुड़ी इन्द्रियों में एक बात है जो कर्मेन्द्रिय में भी है। इन्द्रियाँ सेतु भी हैं। सेतु के रूप में उनकी सत्ता बड़ी विचित्र है। पहेली जगाती है। जिन्हें हम बाहर-भीतर कहते हैं, इन्द्रियाँ उनके बीच कहीं होती हैं। 'कहीं' का जानबूझ कर प्रयोग कर रहा हूँ, क्योंकि यही पहेली की ओर ले जाता है। बाहर की वस्तु देश में होती है, जिस देश को हम दिशाओं में आँकते-कसते हैं; बाहर की वस्तु को हम 'कहीं न कहीं' रखते हैं—न रख पायें तो बोध कसमसाता है। भीतर का संसार देश में नहीं होता, 'कहीं' के लोक में ही —कोटि में ही—नहीं आता। जो फूल मैंने पकड़ा, चुना, देखा, सूंघा, वह बाहर है, मेरी उंगलियों में, पर उसका रूपबोध, उसका गुणबोध, और इससे भी आगे बढ़कर, उसका नाम। फिर फूल क्या है, कैसा है, क्या होना चाहिये, ऐसे प्रश्नों पर विचार, इनके बारे में 'कहाँ है' यह सवाल ही बेमानी है। बाहर-भीतर का यह विचित्र भेद इन्द्रियों के मध्य-स्थित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सेतु 'होने' को और भी अनहोना बना देता है। महायान के एक प्रज्ञापारमिता सूत्र में बुद्ध अपने एक प्रिय शिष्य से यही प्रश्न करते हैं : भन्ते, तुम मुझे देख रहे हो, सुन रहे हो, तुम्हारा देखना, सुनना कहाँ है? इन्द्रियों पर बात आती है। उनके बारे में भी बुद्ध यही प्रश्न करते हैं, कहाँ हैं इन्द्रियाँ? शिष्य : शरीर के भीतर हैं। बुद्ध : तो भीतर क्यों नहीं देखतीं? शिष्य : बाहर हैं। बुद्ध : तो फिर शरीर के दूसरे अंगों को जैसे देखती सुनती हैं, अपने आप को क्यों नहीं देखतीं सुनतीं? हम अपनी आँखों को देख सकते हैं (दर्पण में), वे भौतिक ही हैं। उनके भूत शरीर में दोष आ जाये तो देखना भी बन्द हो जाता है। फिर भी प्रश्न रह जाता है : देखने को भी क्या भौतिक कह सकते हैं? यों गुत्थी आगे बढ़ती है। सूत्र के बुद्ध-वचन में बात प्रतीत्यसमुत्पाद की निःस्वभाव, शून्य दृष्टि की ओर जाती है। इन्द्रियों का बाहर-भीतर के बीच होना एक निराधार त्रिशंकु सा होना ही उन्हें निःस्वभाव ठहराता है। विचार का यह मार्ग या उसकी चर्चा यहाँ उद्दिष्ट नहीं है। पर इन्द्रिय-स्वरूप की पहेली का ऐसा उत्थापन और उससे बात का आरम्भ, विचार पर छाप छोड़ता है। बुद्ध और शिष्य के संवाद से स्पष्ट है कि इन्द्रिय का स्वरूप-निर्धारण समस्या है—इसलिए कि बाहर-भीतर का स्वरूप भिन्न है और इन्द्रियाँ दोनों को जोड़ती हुई, दोनों के बीच में हैं। दो प्रतीप स्वरूपों की भागी। यों इन्द्रिय का स्वरूप बड़ी साक्षात्, बड़ी अनुभूत, सी पहेली है, इतनी अभ्यस्त कि पहेली के रूप में हम उसे देखते ही नहीं हैं—बुद्ध शिष्य की अभ्यास-संस्कार-सुप्त सी विचार-वृत्ति में आलोड़न जगाना चाहते थे, तभी उन्होंने इन्द्रिय-स्वरूप की पहेली उठाई। पहेली क्या उलटबाँसी कहिये, बुद्ध ने पहेली को उलटबाँसी का ही रूप दिया था। पहेली का 'उत्तर' दिया जाता है, बुद्ध वैसे किसी उत्तर की ओर नहीं बढ़ रहे थे—इन्द्रिय क्या है, यह बताना उनका प्रयोजन ही नहीं था। वे शिष्य को अगाध में उतारना चाह रहे थे, इन्द्रिय के होने को, होने मात्र को पहेली के रूप में उभारना चाह रहे थे।

(महायानी) बुद्ध के लिए इन्द्रिय का कोई स्वरूप नहीं, इन्द्रिय 'निःस्वभाव' है, जैसे कि वह सभी कुछ निःस्वभाव है जिसका हम स्वरूप या स्वभाव, अपने अभ्यस्त स्वभाव में रहते हुए, देखते हैं। इस बात का सम्यक् बोध ही बोधि या निर्वाण है। बुद्ध की चर्चा में बाहर और भीतर का भेद जड़ और चेतन इन दो 'अन्तों' या आत्यन्तिक भेदों पर टिका लगता है। बाहर, भीतर की किसी भी चर्चा में यह स्वाभाविक है। इन्द्रिय इन दो आत्यन्तिक कोटियों के बीच में है, तभी पहेली है। इन्द्रिय के स्वरूप को हम निश्चित ठहराना ही चाहें तो दो मार्ग प्रशस्त हैं—जो निदान की दो विपरीत दृष्टियों का सहारा लेते हैं : भूत (जड़) वाद या चेतनवाद। इन दो 'अन्तों' को साथ ले कर हम बीच में कोई मुकाम बनाना चाहें तो लगता है निःस्वभाव की ओर ही पाँव उठेंगे।

आज जड़वाद या भूत (भौतिक) वाद का गहरा संस्कार हमें विज्ञान से मिला है। विज्ञान की दृष्टि तह तक भौतिक है—अब चाहे उस दृष्टि को विज्ञान-प्रस्थान-में-ही-निहित-पूर्वग्रह का नाम ही क्यों न दें; या इससे भी आगे बढ़ कर कहें कि हमारी 'ज्ञान-वृत्ति' ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कारण-कार्यभाव के माध्यम से जगत् को 'जानती' है, वही जानना है, और ज्ञान-वृत्ति जिसे जानती है वह भौतिक जगत् है। यों घुमा कर ही कहिये यह बात प्रकट ही जड़वाद की बात है। विज्ञान इन्द्रियों को ही नहीं, चेतना को भी भौतिक मान कर प्रयोग-रत होता है। यह बात और है कि 'भूत' का स्वरूप-निर्धारण उसे भूत के किसी सहजग्राह्य, साक्षाद्गम्य—भूत के रूप में पहचाने जा सकने वाले—कार्य-कारणभाव-निष्ठ ज्ञान की ओर न ले जाकर गणित के ऐसे मार्गों पर ले जा रहा है जहाँ कार्य-कारणभाव का बोध और निखरने की जगह स्वयं भी अनिर्धार्य की ओर बढ़ता जान पड़ता है। पहेली का सा रूप लेता दिखता है। विज्ञान ही नहीं, विज्ञान की 'भाषा' कहलाने वाला गणित भी आज तर्क, उपपत्ति के जाने पहचाने, 'निर्धार्य', रास्तों से दूर निकलता दिखाई देता है। पर यह बात और है। ऐसा लगता है कि अनुभव के जगत् को समझने के लिए किसी भी दृष्टि को लेकर चलिए, पहेलियाँ उभरेंगी—आत्यंतिक दृष्टियों में तो और भी स्पष्ट। यहाँ बात विज्ञान-दृष्टि के आत्यंतिक भौतिकवाद की है। दृष्टि भूत-निष्ठ हो तो बाह्य और आंतर का भेद क्या? सब प्रातिभासिक हो जाता है—बस दिखता है, है नहीं। पर साथ ही यह भी देखिये कि चेतना-सर्वस्व दृष्टि के लिए वह दूसरे छोर से प्रातिभासिक हो जाता है। भेद को प्रातिभासिक न कह कर औपाधिक भी कह दिया जाता है। उपाधि और प्रतिभास, दोनों भ्रान्ति की कोटियाँ हैं पर दोनों में कुछ अन्तर भी अभिप्रेत लगता है। प्रतिभास का सम्बन्ध द्रष्टा विशेष के देखने से हो सकता है—मेरे देखने से। उपाधि का होना यों मुझ तक सीमित नहीं। उपाधि की धारणा में एक सार्वजनीन उपस्थिति की कल्पना है। उपाधि मेरे देखने मात्र में नहीं, देखने में ही निहित होती है। बल्कि मेरे, या किसी द्रष्टा विशेष के लिए वह भ्रान्त भी ठहर जाये तो भी वह 'बनी' रहती है, केवल एक असाधारण उच्चतर या गहनतर बोध के लिए ही वह मिट सकती है। इस बोध के बाद भी चेतना अगर साधारण, सार्वजनीन बोध पर उतरे तो उसे वे भेद दिखते रहेंगे जो 'उपाधिगत' होते हैं—जैसे बाह्य और अन्तर का भेद। 'उपाधि' शब्द का प्रयोग ऐसी अध्यात्म-परम्पराओं में किया जाता है जो अद्वैत—और यों अभेद—की ओर झुकती हैं। चेतना—या चित्—को एक अद्वय और परम तत्त्व मानती हैं। पर भौतिकवाद को भी उपाधि जैसे कुछ की आवश्यकता होती है—नाम जो भी दें। दृष्टि एकतत्त्ववादी हो तो भेद के लिए उपाधि के सिवा चारा नहीं। भौतिकवादी के लिए यह भेद मिट भी नहीं सकता—किस के लिए मिटेगा, जब चेतना ही उपाधि है?

पर चलिए औपाधिक ही सी। उपाधि की अपनी क्या सत्ता है? यह 'है ही नहीं' की बात तो हो नहीं सकती। गहराई से देखें तो बोध और बुद्धि के लिए भेद और अभेद का प्रश्न बड़ा गहरा, बड़ा सर्वतोव्याप्त, सर्वतोप्रवृत्त प्रश्न है। हमें भेद, अभेद दोनों चाहियें। भेद न हो तो देखने का - ज्ञान का, बोध का - कोई अर्थ नहीं बनता। पर भेद ही हो तो भी देखने का कोई अर्थ नहीं बनता। सत्ता भेद-सर्वस्व हो तो मेरा देखना मेरी दृष्टि से भिन्न को जानेगा ही कैसे—चाहे जानना भ्रान्त ही क्यों न हो—प्रतिभास, उपाधि। जानना सम्भव ही कैसे होगा? ज्ञान-विषय में सम्बन्ध चाहिये, और सम्बन्ध किसी अभेद की अपेक्षा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रखता है। अपने देखने को लीजिये। देखने का एक क्षितिज होता है, जहाँ बहुत कुछ एक ही पसारे में जमा होता है—जो वस्तुएँ भिन्न गोचर होती हैं वे हमारे देखने की एक ही धरती (या आकाश कह लीजिये) उसी एक विस्तार में स्थित होती हैं। न हों तो अनेक भी नहीं दिखेंगी। देखने की यह एक अभिन्न धरती बुद्धि में प्रकट ही होती है, जहाँ विस्तार केवल आँखों—दिखती वस्तुओं का ही नहीं होता है, वह अन्तर-बाहर के कई स्थूल, सूक्ष्म क्षेत्रों को एक क्षितिज देता है—हमारा बाहर देखना, और उस पर अन्तर का विमर्श, दोनों बोध या बुद्धि के एक चक्रवाल में एक साथ होते हैं। बुद्धि के इस एकात्म-भाव—अभेद—के बिना भेद 'दिख' नहीं सकता। हमारा बोध भेद और अभेद दोनों को पलड़ों की तरह लेकर चलता है। समस्या तोल के औचित्य की होती है—कब कौन सा पलड़ा कितना किधर को झुके। इस औचित्य की खोज विचार का एक बड़ा पुरुषार्थ है। पर भेद-अभेद की तुला चेतना के ही मूल में अधिष्ठित जान पड़ती है। आत्मचेतना के लिए तो इसके पलड़े सम्भालना, यह विचार का ही नहीं, भाव और कर्म का भी गहरा पुरुषार्थ है—समस्या है। भेद, अभेद ये चेतना के वैभव भी हैं और शाश्वत सी उलटबाँसी भी।

कहना न होगा कि भेदों में बाहर-भीतर का भेद एक गहरा भेद है। इसको हम चाहे जैसे भी समझें-समझायें, इससे इन्कार नहीं कर सकते। 'है ही नहीं' कह कर इसका निषेध विचित्र हठ सा लगता है। हमारी खोज—हमारी साध—दोनों को सार्थक भाव से 'एक' करने की होती है—भाव में, कर्म में, ज्ञान में। मैं भी अब आगे विचार में इधर बढ़ने का रास्ता तलाशता हुआ बढ़ता हूँ। शल्य जी की एक धारणा को लेता हूँ : 'प्रत्यय'। प्रत्यय शब्द पुराना है, पर जिस धारणा की बात कर रहा हूँ शल्य जी की अपनी और नई है। विचार के लिए बड़ी उर्वर है—विशेषकर बाहर-भीतर को एक ही 'घर' में समोने के लिए।

हमारे लिए बाहर और भीतर ये सचमुच मिल कर एक घर बनाते हैं, जिसमें हम रहते हैं। मुझे लगता है कि 'घर', 'आँगन', ऐसे शब्दों की ध्वनि से ही यहाँ बात पकड़ की बात बन सकती है। हमारा अनुभव, हमारी साधना, हमारी आत्मचेतन जीवन-यात्रा, इसके जीते-जागते संकेत हैं। 'प्रत्यय' की धारणा घर उभारती है। कोई भी भेद-निष्ठ, विरोध या प्रतीप भाव-प्रधान युगल कोटि—जैसे भ्रान्त-अभ्रान्त, इस 'घर' को सार्थक रूप से पकड़ते नहीं लगते। हमारे लिए घर हमारे बाहर और भीतर का एक युगल-भाव है। मिलन है। एक साध्य आदर्श भी है। तभी हम घर सा घर ढूँढते हैं। इसीलिए इस का बाहर भी होता है, जो रहने वाले के भीतर भी हो सकता है, या घर की चौखट के बाहर। इसका हमें अनुभव होता है। घर सा घर, अन्ततोगत्वा, वह सतयुग का सा सपना है जहाँ भीतर की भूमा बाहर भी आत्मस्थ हो। जैसा कह आया हूँ, बाहर-भीतर के भेद के मूल में स्वतन्त्र चेतना और परतन्त्र कार्य-कारणभाव-निष्ठ जगत् का भेद है, जिन्हें हम अन्तर्जगत् और बाह्य-जगत् का नाम देते हैं। हमने देखा कि आत्यंतिक वादों में इस भेद को भ्रान्ति कहा गया है। इस भेद को चलिए भ्रान्ति ही कहें तो यह कैसी भ्रान्ति है? दार्शनिकों में इसको

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वैसी भ्रान्ति कहा गया है जो मीमांसा से बुद्धि के लिए मिट जाती है पर देखने में नहीं मिटती—आकाश के नील जैसे। नील ही नहीं, आकाश में कितने रंग होते हैं और कैसे कैसे अनुभव जगाते हैं। जो दृष्टि इन रंगों को भ्रान्त या मिथ्या ठहराती है वह अगर संवेदना से बिल्कुल ही सूनी न हो तो इस 'भ्रान्ति' को कोई और 'रंग' भी देने की चेष्टा करती दिखती है। उसके लिए कोई ऐसा घर बनाने की ओर झुकती है जहाँ वह नितान्त भ्रान्त न हो, कुछ सार्थक हो, सत्य हो। पर एक दूसरा उदाहरण लीजिये, सपाट, बेरंग सा : पानी में टेढ़ी दिखती पेन्सिल। उसका टेढ़ापन बुद्धि के लिए ही मिटता है। आँखों को तो टेढ़ी न दिखे तो हमें चिन्ता होगी कि आँख को कुछ हो गया है। कहते हैं कि बुद्धि से भी ऊपर लें तो बोधि में भेद का सम्पूर्ण, समूल 'बाध' हो जाता है। इसीलिए अभ्यास के लिए भ्रान्ति की उपमा रज्जु-सर्प से दी जाती है—रज्जु दिख जाये तो सर्प दिखता ही नहीं, हमारे भय के साथ ही उड़ जाता है।

पर बात यहाँ आ जाये तो भेद का स्वरूप भी एक दूसरी भूमि पर उत्तीर्ण हो जाता है। परमार्थ और व्यवहार की दो आत्यन्तिक कोटियाँ बन जाती हैं। 'व्यवहार' यहाँ जगत् का ही दूसरा नाम है जिसमें अन्तर्जगत् बहिर्जगत् सब आ जाता है। अध्यात्म के निवृत्ति-मार्ग के लिए व्यवहार की कोटि मिथ्या है। किसी रूप में उसकी सत्ता मानें भी तो भी वह अन्त में तुच्छ, अ-सार्थक है। पर कहना न होगा—क्योंकि बात बार बार कही गई है, पुरानी है—कि निवृत्ति की साधना प्रवृत्ति को मान कर चलती है—प्रवृत्ति के भीतर से बाहर निकलने की दिशा लेती है। यही परमार्थ का मार्ग कहलाता है। आप पूछ सकते हैं, निवृत्ति-मार्ग का यहाँ प्रसंग क्या? पर कर्म या किसी भी प्रवृत्ति के प्रसंग में निवृत्ति की चर्चा 'अत्यन्त' प्रासंगिक है—क्योंकि निवृत्ति सार्थक प्रवृत्ति का 'आत्यन्तिक' प्रतियोगी है, उसके बिना प्रवृत्ति की बात बनती नहीं है। हमारे यहाँ तो यह बोध पुराना है—और ठीक ही है।

यह बोध भी पुराना है कि निवृत्ति का मार्ग परमार्थ और व्यवहार में नितान्त भेद मान कर सम्भव नहीं। किसी तरह के अभेद के बिना नहीं बनता—या अभेद नहीं कह कर 'सेतु' कह सकते हैं। सेतु की सत्ता व्यावहारिक ही सही, पर बात यहाँ सत्ता की नहीं है—सत् है, असत् है, सदसत् है, न-सत् है न-असत्, चुतुष्कोटि बहिष्कृत शून्य है—यह एक अलग प्रश्न है। बात यह है कि सेतु बनता है, निवृत्ति के लिए भी बनता है, उसका रूप बनता है—उसकी सत्ता की पहेली को चाहे जैसे सुलझायें। सेतु तो चाहिये—और होता है; परमार्थ के सब मार्गों में इस बात की स्वीकृति है—उसकी सत्ता जैसी भी हो, न हो। विपक्ष में आकस्मिकता की बात की जा सकती है—ईश्वर की अचानक, अकारण कृपा। पर इसकी चर्चा नहीं करूँगा, इसे 'मार्ग' भी नहीं कह सकते। और बात सेतु की ही नहीं, उचित सेतु की है, समर्थ सेतु की है, साध्य सेतु की (आकस्मिकता या यदृच्छ में यह सम्भव नहीं)। हमें ऐसा सेतु चाहिये जो व्यवहार को परमार्थ से मिला सके—जिसमें दोनों के गुण हों, दोनों की सत्ता हो। ('गुण', 'सत्ता' ये यहाँ लाक्षणिक ही हो सकते हैं, शब्दों की दूसरी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तो यहाँ गति ही कैसे बनेगी? शब्द भी यहाँ कथनी-अकथनी के बीच सेतु जैसे ही है)। यह भी यहाँ सोचने की बात है कि मार्ग का, या सेतु का (सेतु मार्ग ही होता है), उसका औचित्य यहाँ अपनी अलग समस्याएँ जगाता है—जगाता ही रहा है—जिसका सम्बन्ध उसकी सत्ता-मीमांसा से नहीं है उसके ऐसे गुणों से है जो व्यवहार को परमार्थ के अनुकूल बना सकें।

विचार के ऐसे रास्ते से सोचिये तो प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग का भेद भी सिमट आता है। हमारे यहाँ प्रवृत्ति-मार्ग का अपना कोई निर्दिष्ट तत्त्व-दर्शन नहीं है। मोक्ष-भिन्न धर्म-अर्थ-काम, ये पुरुषार्थ, मनुष्य की प्रवृत्ति के लक्षण हैं। औचित्य-विचार तीनों में धर्म को प्रधान ठहराता रहा है—काम और काम-प्रेरित इष्ट अर्थ की साधना, ये तो जीव मात्र करते हैं; मनुष्य में आत्मचेतना है, विवेक है—औचित्य की प्यास है—वह अर्थ और काम दोनों को धर्म की दिशा देना चाहता है। धर्म-अर्थ-काम के त्रिवर्ग को लेकिन प्रवृत्तिमार्ग का तत्त्व-दर्शन कहना ठीक नहीं होगा। वह उस क्षेत्र की बात करता है जिसे हम साधारण अर्थ में कर्म कहते हैं। इसमें किसी दर्शन की बात की जाये, या निहित दृष्टि का संकेत लिया जाये तो वह भीतर-बाहर का भेद करती भेदवादी दृष्टि ही ठहरेगी। पर प्रवृत्ति की भेदवादी दृष्टि हो या निवृत्ति की अभेदवादी दृष्टि, दोनों के लिए भीतर-बाहर का भेद सेतु चाहता है—परमार्थ-दृष्टि के लिए चाहे 'भीतर' भी अन्त में जाकर 'व्यवहार' के ही अन्दर आता हो और यों तत्त्वतः मिथ्या हो।

प्रवृत्ति और निवृत्ति की साधना में एक विराट् अन्तर है—तात्त्विक अन्तर कह सकते हैं : प्रवृत्ति मार्ग व्यवहार में व्यवहार की सार्थकता साधता है। हम ऊपर कह आये हैं कि सतयुग का सपना व्यवहार के ही आदर्श रूप की एक छवि है। सतयुग का आदर्श परस्पर भाव का एक सामाजिक आदर्श मात्र है। वह व्यवहार की ऐसी धरती बनाता है जहाँ मनुष्य स्वच्छ और स्वच्छन्द भाव से कुछ और साध सके। पुरुषार्थों के त्रिवर्ग के साथ चतुर्थ को भी लें तो यही निष्कर्ष निकलता है कि वह 'कुछ और' की साधना मोक्ष की साधना होनी चाहिये। निवृत्ति की साधना। परम्परा का यही संकेत जान पड़ता है। पर आवश्यक नहीं कि बात यों घूम फिर कर फिर निवृत्ति पर आ जाये—लक्ष्य वही बने। प्रवृत्ति के अपने अभ्युदय के 'प्रभव'—सार्थकता—के आदर्श होते हैं ('धर्म-संकट' में कृष्ण की प्रभव की धारणा पर कुछ चर्चा कर चुका हूँ)। यह मार्ग स्वरसेन भेद-दृष्टि को ही पालना प्रतीत होता है। इस मार्ग के लिए भी तत्त्व के ऐसे प्रश्न उठ सकते हैं : धर्म की 'सत्ता' क्या? व्यवहार की 'सत्ता' क्या? और भी दार्शनिक प्रश्न उठ सकते हैं, गहरे दृष्टि-भेद भी हो सकते हैं—कुछ प्रभववादियों के लिए तात्त्विक रूप से जगत् तुच्छ या आकस्मिक या यादृच्छिक भी ठहर सकता है, और ऐसे जगत् की 'सत्ता' ही क्या? पर बात सार्थकता की है। सार्थकता की खोज मनुष्य की सत्ता में निहित है, वह सत्ता जैसी भी 'हो'। सत्ता की खोज भी सार्थकता की खोज का अंग कहला सकती है। और सार्थकता की खोज औचित्य का निष्कर्ष तलाशती ही है, हमारी सभी वृत्तियों में—ज्ञान में, विचार में, भाव में, कर्म में। इसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हम अपनी आत्मचेतना में बनते स्वतन्त्रता के स्तरों में देखते ही हैं (पिछले लेख में दिखाने की एक चेष्टा भी थी)। पर साथ ही एक बात और है। स्वातन्त्र्य चेतना का जितना 'अपना' बनता जाता है उतनी ही अन्तर और बाह्य की खाई भी गहराती दिखती है। बात कुछ परमार्थ और व्यवहार के सदृश सी उभरती है—भीतर का स्वातन्त्र्य, प्रवृत्ति-की-सार्थकता-ढूँढता औचित्य का स्वयंभू क्षेत्र, और उसके सम्मुख कार्य-कारण-परतन्त्र बाह्य जगत्।

दोनों का सम्बन्ध कैसा? प्रश्न उठता है। पर एक बात सोच देखिये। प्रश्न यहाँ वैसा विकट या चरम प्रश्न नहीं होना चाहिये, वैसा 'आत्यन्तिक', जैसा कि परमार्थ और व्यवहार के बीच निवृत्तिमार्गियों की बोधि का अभेदनिष्ठ अद्वैतबोध जगाता है। बाहर और भीतर का सम्बन्ध हम आठ पहर बैठाते ही चलते हैं—'निष्पादित' करते चलते हैं—ज्ञान में, भाव में, कर्म में। यही बात परमार्थ के मार्गों पर भी लागू होती है—उन मार्गों की यात्रा भी ज्ञान, भाव, कर्म के भीतर रह कर ही होती है। हमारी हर साधना में कार्य-कारण भाव का पारतन्त्र्य हमारे निष्पादन का अभिन्न अंग होता है, चाहे साधना निवृत्ति की हो। और जैसा कह आया हूँ, हम उपाय का एक संसार—बल्कि भिन्न क्षेत्रों में भिन्न संसार—बनाते ही चलते हैं। यह हमारे व्यवहार का अभिन्न अंग है। इन्द्रियों की भूमिका यहाँ स्पष्ट ही मध्यस्थ की होती है। सेतु की।

ज्ञानेन्द्रिय—या जिन्हें मैंने भोगेन्द्रिय कहा है—इनमें इन्द्रिय का सेतु-रूप स्वीकृत ही है। कर्मेन्द्रिय को भी इस दृष्टि से देखें तो उसका इन्द्रियत्व उभर आता है। 'निष्पादन' का जैसा साक्षात्, 'सक्रिय' अनुभव हमें कर्मेन्द्रियों के प्रयोग में होता है वैसा ज्ञानेन्द्रिय—या भोगेन्द्रिय—में नहीं होता। ज्ञान और भोग में इन्द्रिय का ग्राहकभाव—ग्रहण का भाव रूप—अधिक उभरता है, कर्तृत्व गौण रहता है। ठीक है, अवधान के व्यापार में हम इन्द्रिय को अपनी चेष्टा से एक दिशा, एक केन्द्र देते हैं। और भोग में हम इन्द्रिय को भोग की ओर जगाते हैं, उकसाते हैं—यों भोग साधते हैं। पर निष्पादन-क्रिया इन्द्रिय पर आकर निःशेष हो जाती है। शंकर ज्ञान और कर्म का अन्तर दिखाने के लिए बार बार इस बात की ओर इंगित करते हैं। भोग भी यहाँ ज्ञान की कोटि में ही आता है, शंकर चाहे इधर इंगित न करते हों। हम अक्सर ज्ञान (और भोग) में इन्द्रिय को कार्य-कारण भाव का माध्यम बनाते हैं—इन्द्रिय को 'करण' कहने में यही अभिप्राय होता है। पर यहाँ एक बात की ओर आपका अवधान ले जाना चाहता हूँ। अपने अनुभव को साक्षी कीजिये। ज्ञान या भोग में इन्द्रिय के कारण होने का तो साक्षात् अनुभव होता है—इन्द्रिय को हम स्वेच्छा से इधर-उधर ले ही जाते हैं। पर इन्द्रिय के कार्य-कारण भाव का हम अनुमान ही करते हैं—उसका साक्षात् नहीं होता। इन्द्रिय विषय पर केन्द्रित होती है तो इन्द्रिय की अपनी क्रिया का आरम्भ हो जाता है (जिसे हम निष्पादित नहीं करते), और हमारे ज्ञान-व्यापार या भोग-व्यापार (या दोनों) का आरम्भ हो जाता है पर इस व्यापार को अन्तर व्यापार कहना ही उचित है—यह आत्मचेतना के स्वातन्त्र्य की ओर प्रवण या उन्मुख होता है, चाहे सब समय पूरा आत्मचेतन न भी हो। इसके विपरीत कर्मेन्द्रिय में कार्य-कारण भाव का साक्षात् होता है। दूसरी इन्द्रियों की तरह वह बाहर से भीतर नहीं, भीतर से बाहर को जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साथ ही वहाँ भीतर से बाहर का निष्पादन व्यापार मानो एक ही प्रक्रिया के छोर होते हैं। कुछ करते हुए हम अपने आपको किसी कार्य के कारण के रूप में देखते-जानते चलते हैं। यह व्यापार हमारे कर्त्ता भाव का अभिन्न अंग है। अनुभव के साक्ष्य में घटती बात है। यों कर्मेन्द्रिय हमारे कर्म में बाहर-भीतर के बीच वैसी ही सेतु बनती है जैसी ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान और विषय के बीच। तभी मैं समझता हूँ, कर्मेन्द्रिय को इन्द्रिय कहना कोई विसंगत या अयुक्त बात नहीं है। पर अन्तर को भी लक्ष्य कीजिये। कर्मेन्द्रिय के व्यापार में कार्य-कारण भाव भीतर के स्वातन्त्र्य और बाहर के पारतन्त्र्य के बीच बाधक नहीं हो कर साधक होता है। हमारा बनाया सेतु बनता है। और अनायास सेतु बनता है। सहज स्वभाव से। कार्य-कारण भाव सहज निष्पादन का साधक हो जाता है। लगता है कर्मेन्द्रिय पारतन्त्र्य और स्वातन्त्र्य दोनों से एकात्म है—दोनों में एक साथ बसी हुई है। दोनों का विरोध वहाँ जैसे है ही नहीं। यह ठीक है कि इन्द्रिय-दोष के कारण कोई असमर्थता आ जाये तो बाहर-भीतर का यह सम्बन्ध हठात् टूट जाता है। पर तभी यह बोध भी और गहराता है कि कितना अकृत्रिम था। दुबारा शक्ति आ जाये तो सामर्थ्य का वही बोध एक नई आत्मचेतना के साथ भी आ सकता है।

मेरा उद्देश्य कर्म को व्यावृत्ति के द्वार से उभारना भी है। कर्मेन्द्रिय के व्यापार में हम कर्म की एक अवधेय व्यावृत्ति देख सकते हैं। ज्ञान और भाव से भिन्न उसकी वृत्ति भीतर से बाहर की ओर है—उसका व्यापार भीतर के स्वातन्त्र्य को बाहर रूप देना चाहता है, जहाँ पारतन्त्र्य का साम्राज्य फैला जान पड़ता है। कर्मेन्द्रियाँ स्वरूप से ही भीतर को बाहर लाने का माध्यम हैं। हमारे व्यवहार-लोक से यहाँ कर्म का एक सीधा सा सम्बन्ध उभरता है। इस बात को आगे बढ़ाऊँगा। पर एक प्रश्न यहाँ अनायास ही उठता है : उसको उठाता चलता हूँ। भावना की वृत्ति में भी हम बाहर-भीतर का वैसा सम्बन्ध देख सकते हैं जैसा कर्म में। शिल्प की कृतियों में ऐसा होता ही है। फिर भाव और कर्म में अन्तर क्या? कह चुका हूँ कि मैं नृत्य या नृत्त को कर्म-बोध का दृष्टान्त बनाना चाहता हूँ। आगे कर्म और नृत्त का सम्बन्ध बिठाता हुआ प्रश्न की चर्चा करूँगा।

पर चलते चलते एक प्रश्न और : हमने कर्मेन्द्रिय को सेतु कहा है। स्वरूप से वह यन्त्र जैसा लगता है, जिसका हम संचालन करते हैं। शरीर में यन्त्र जैसी और भी प्रक्रिया है। अन्तर क्या? शरीर के दूसरे यन्त्रवत् व्यापारों में इसको भी क्यों न शामिल किया जाये? सच पूछिये तो प्रश्न बनता नहीं है, और बनाया जाये तो ऐसे प्रश्न के पीछे अभिप्राय एक सर्वव्यापी यन्त्रवाद की ओर झुकता दिखता है। पर 'यन्त्रवत्' और 'यन्त्र' में भेद है। 'यन्त्रवत्' का इंगित एक सामान्य कार्य-कारण-भाव की ओर है। कार्य-कारण-भाव को कई तरह देखा जा सकता है, उसका यन्त्रवत् आकलन उसे बड़ा स्फुट सा कर देता है। इसलिए कि यन्त्र हम स्वयं बनाते हैं, उसकी प्रक्रिया को अंग-अंग में स्पष्ट समझते हैं। उसका संचालन करते हैं (पहले लेख में भोज के यन्त्र-लक्षण पर भी यहाँ दृष्टिपात कीजिये—यन्त्र का हमारी स्वतन्त्र चेष्टा से निर्मित हो पाना, यही उनके लिए यन्त्र का यन्त्रत्व है)। शरीर के सौ यन्त्रवत् व्यापार हैं, जिनका हमें ज्ञान हो न हो, भान रह सकता है; हम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जानते हैं कि हाँ, ऐसे व्यापार हैं। उनकी प्रक्रिया समझते हैं, चिकित्सा के लिए हस्तक्षेप भी करते हैं। कर्मेन्द्रिय के व्यापार को हम यन्त्रवत् कहना भी चाहें तो भी ध्यान रखना चाहिये कि उनका संचालक यन्त्र नहीं होता। यन्त्र का बोध संचालक अपने से भिन्न के रूप में करता है। इन्द्रिय के साथ भी कभी ऐसा हो जाता है, पर फिर भी यन्त्र से कभी हमारा वैसा 'आत्मीय' सम्बन्ध नहीं होता जैसा कर्मेन्द्रिय से होता है। हम यन्त्रवाद को विचार-विवेचन में आगे बढ़ा कर कह सकते हैं कि जिस स्वेच्छा से कर्मेन्द्रिय संचालित होती है वह भी अनात्म है—कार्य-कारण की शृंखला में बद्ध है; एक विराट्तर यन्त्र का ही पुर्ज़ा है। पर यन्त्र के इस क्षितिज को—उसकी परिधि को—हम कहाँ तक बढ़ा सकते हैं? क्या 'सर्वं खुल यन्त्रम्' तक ले जा सकते हैं? पर यह ले जाने वाली चेतना भी अगर यन्त्र हो तो गति निरर्थक ही ठहरेगी। न झूठ, न सच। क्योंकि झूठ-सच का निर्णय तो स्वतन्त्र चेतना ही कर सकती है; कार्य-कारण-परतन्त्र यन्त्र नहीं कर सकता। यन्त्र की परिधि को सर्वत्र व्यापी, जगत्-व्यापी, करने से बाहर-भीतर का भेद मिट नहीं जायेगा, बस बाहर का क्षेत्र फैल जायेगा—साँख्य की प्रकृति-पुरुष जैसा एक तात्त्विक द्वैत और द्वन्द्व खड़ा होगा। फिर दोनों के वीच सेतु की समस्या भी खड़ी होगी—क्योंकि दोनों सर्वथा भिन्न हों तो दो की बात ही नहीं हो सकती। बुद्धि के किसी अभेद की धरती पर ही तो दोनों की अलग-अलग कल्पना की जा सकती है। और जगत् की एक यन्त्र के रूप में हम कल्पना करें भी तो यह कैसा यन्त्र होगा? जैसे यन्त्रों को हम बनाते हैं—निष्पादित करते हैं—चलाते हैं, वैसा यन्त्र तो नहीं हो सकता। जगत् ही यन्त्र हो तो स्वचालित यन्त्र ही हो सकता है—और हमारा उसके अन्तर्गत होना एक विषम पहेली—या विभीषिका। या एक आकस्मिक घटना। हम उसके अन्दर कुछ अपनी तरह से हाथ पाँव मार लें, कुछ यन्त्र भी बना लें, तो पहली बात यह कि हम यन्त्रवादी हों तो हमें अपनी प्रवृत्तियों को, चेष्टाओं को—हथकण्डों को—यन्त्र की ही प्रक्रिया के रूप में समझना होगा। दूसरी ओर हमारे काम की बात यह कि हम अपने आसपास को ऐसे यन्त्र का निष्पादक तो किसी अर्थ में नहीं कह सकते। निष्पादन के बिना यन्त्र क्या? जगत् के लिए 'यन्त्र' शब्द लक्षणा में ही प्रयुक्त हो सकता है—और इस लक्षणा का अर्थ अगर यह हो कि 'सर्वं कार्य-कारणभावतन्त्रम्' तो यह एक तरह का 'परमार्थ' होगा और हमारे अनुभव, औचित्यबोध, हमारी साधना, और जिसे हमने अपने व्यवहार का जगत् कहा है—हमारा मनुष्य-लोक, कर्म-लोक—उसकी स्थिति की ही नहीं उसके स्वरूप की समस्या वहीं की वहीं रह जायेगी।

हम ऊपर देखते आ रहे हैं कि स्थिति या सत्ता की समस्या किसी द्वैत से नहीं सुलझ सकती। न द्वैत से इन्कार किया जा सकता है। पर द्वैत के बीच सेतु बनते हैं। इन्द्रियों में हम साक्षात् सेतु का अनुभव करते हैं जो स्वभाव से ही द्विस्वभाव उभरते दिखते हैं। कर्मेन्द्रियों में तो कार्य-कारण-भाव ही जैसे सहज निष्पाद्य-निष्पादक भाव का भागी हो जाता है। भीतर-बाहर की गाँठ सहज खुल जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर कहना न होगा कि कर्म के स्वरूप को समझने के लिए इतना काफी नहीं है कि बाहर-भीतर के बीच सेतु सम्भव हुआ। यह तो एक बाहर-भीतर फैलते बृहत्तर विस्तार का द्वार ही हो सकता है—उसका घर नहीं। घर को बाहर-भीतर और क्षितिज चाहिये। पर एक बात ध्यान में रखने की है कि जो द्वार हमने पाया है सहज ही पाया है, उसे सहज का द्वार भी कह सकते हैं। विचार के लिए बाहर-भीतर का भेद जैसा विकट जान पड़ सकता है वास्तव में वैसा नहीं है। हमारे अपने विचार की समस्या अब मैं समझता हूँ सहज को विस्तार देने की है। क्या कहना चाह रहा हूँ, इस पर आता हूँ।

बात को यों भी कह सकते हैं। सहज का अर्थ यह भी है कि वहाँ उपाय और उपेय के बीच गाँठ नहीं होती। एक निरन्तर, निरवच्छिन्न, अव्यवहित सी गति होती है। उपाय-उपेय के बीच जो दूरी होती है, उनका वैषम्य-बोध होता है, वह नहीं रहता। दोनों एक अवयवी में सिमट आते हैं। सार्थक कर्म यह माँग करता है। उपाय-उपेय में भेद हो तो भी परस्पर-भाव का भेद हो। अवयव-अवयवी का सा सम्बन्ध हो। इसकी बात करूँगा।

आरम्भ शल्य जी की प्रत्यय की धारणा से करता हूँ, उस धारणा को अपनी तरह से लेते हुए। शल्य जी वेदान्ती हैं, अद्वैती, अभेदवादी। पर एक मौलिक अन्तर है। पारम्परिक वेदान्तियों के विपरीत वे निवृत्तिवादी नहीं, प्रवृत्तिवादी हैं। पीछे मैंने कहा था कि प्रवृत्तिवादी की दृष्टि भेदनिष्ठ जान पड़ती है। पर यह ऊपर-ऊपर से देखने की बात थी—ध्यान में—प्रतियोगी के रूप में—अभेदवाद का निवृत्तिनिष्ठ इतिहास था। पर यह भी कह चुका हूँ कि तलाश यहाँ भेद या अभेदनिष्ठ तत्त्वदर्शक की नहीं—एक सार्थक क्षितिज की है जो बाहर-भीतर को एक विस्तार दे सके। घर का उपमान ले चुका हूँ। हम यह कह सकते हैं कि शल्य जी के यहाँ, उनके वेदान्त में, जगत् का पूरा सृष्टि-व्यापार ही जैसे घर बनाने का एक 'निरन्तर' व्यापार है। 'निरन्तर' इसलिए कह रहा हूँ कि व्यापार देश या काल के किसी भी 'अन्तर' से परे है। देश और काल उस व्यापार को ही 'घर' देते हैं—पर तत्त्वतः उससे भिन्न भी नहीं हैं। यह सृष्टि प्रवृत्ति का ही दूसरा नाम है—एक जगत्-व्यापी प्रवृत्ति; ऋत की स्वतोवृत्ति (हाँ, ऋत जैसी कोई सिद्ध वस्तु, धर्म या छन्द वहाँ नहीं है। सृष्टि सिद्ध पदार्थ की नहीं होती)। प्रवृत्ति सार्थकता साधती है, स्वभावतः ही सृजन में स्फुरित-प्रस्फुटित होती है। नहीं तो जड़ होगी, या होगी ही नहीं, कहना न होगा कि शल्य जी के लिए जगत् का निरन्तर सार्थक सृजन-व्यापार चेतना का व्यापार है, पर वह हमारी सीमित चेतना का व्यापार नहीं है (वह व्यापार जगत् के अन्तर्गत है, वह जगत्-व्यापार नहीं हो सकता)—पर हमारी चेतना में इस व्यापार का एक सार्थक केन्द्र या प्रतीक देखा जा सकता है; क्योंकि हमारी चेतना आत्मचेतन है, अपने भीतर गहरी। यह और गहरी उतर सकती है, सृजन की नाभि की ओर बढ़ सकती है। सृष्टि-व्यापार अखण्ड, अद्वैत चित् का है—पर 'चित् का है' यह कहना भी ठीक नहीं, इससे सृजन-भिन्न एक चित् आ खड़ा होता है। पर व्यापार माया भी नहीं है। चित् के व्यापार को हम अपने आत्मचेतन सृजन को समझने की उत्प्रेक्षा भी कह सकते हैं। हमारे सृजन के लिए घर की उपमा 'अस्थाने' या असंगत नहीं है। घर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सृष्ट होता है, सार्थक होता है; घर को प्रवृत्ति में औचित्य-साधना का उपमान या प्रतीक कहना असमीचीन नहीं जान पड़ता—चाहे उपमा शल्य जी की न हो। पर यह उपमा सृजन तत्त्व पर नहीं हमारी सृष्टि पर ही उतारी जा सकती है—सृष्टि-तत्त्व एक अभिन्न व्यापार है—जिसका हम अपने सृजन को सम्पूर्ण, पर्याप्त बनाने की यात्रा में सतत पीछे हटते क्षितिज पर संकेत पाते हैं। शल्य जी के सार्थक-प्रवृत्तिमय अद्वैत-दर्शन की दिशा उभारने के लिए मैं समझता हूँ इतना ही इंगित यहाँ यथेष्ट है।

यह भी स्पष्ट है कि शल्य जी आत्मचेतना से आरम्भ करते हैं, किसी सम्बोधि जैसी प्रज्ञा से नहीं। हमारी आत्मचेतना प्रत्ययों में आत्मचेतन होती है। प्रत्यय-व्यापार को हम साधारणतः विचार तक सीमित रखते हैं—और यों शब्द या विकल्प तक क्योंकि विचार का व्यापार इन्हीं से होता है। परिचित विचार-परम्परा में प्रत्यय भीतर ही की चीज़ है। शल्य जी प्रत्यय की धारणा को एक बड़ा मौलिक, बड़ी सूझ का विस्तार देते हैं। निवृत्तिमार्गी बौद्धों की तरह उनके लिए प्रत्यय विकल्प-व्यापार, मिथ्या, या निरर्थक व्यापार नहीं है। तत्त्वतः वह सत्य को—सार्थक को—संवृत नहीं, अनावृत करता है। यही सृजन है। यह अनावृत्ति किसी पूर्व-प्रदत्त की नहीं होती, हो तो सृष्टि नहीं होगी। पर प्रत्यय-व्यापार अगर सृजन-व्यापार भी है तो वह 'भीतर' के शब्द-व्यापार तक सीमित नहीं रह सकता—उस विकल्प-व्यापार तक, जो बौद्धों के लिए कल्पना-व्यापार भी है—ऐसा व्यापार जो जगत् की मिथ्या सृष्टि करता है—तुच्छ, निरर्थक, दुःख—बन्धन—प्रपंच के रूप में। जिसे हम 'बाह्य' व्यवहार-जगत् कहते हैं, वह भी विकल्प की सृष्टि है—अविद्याजन्य सृष्टि है : भ्रान्त, मिथ्या। हमारा अन्तर्जगत् भी विकल्प-सृष्टि ही है।

देखने की बात यहाँ यह है कि बौद्धों के 'मिथ्यासृष्टिशील' विकल्प—'प्रत्यय'—के लिए बाहर-भीतर का कोई वास्तव, अर्थवह, भेद - भेद सा भेद - नहीं है। शल्य जी का प्रत्यय प्रतीप गति लेता है—बिल्कुल उलटी दिशा, सार्थक सृष्टि की दिशा। उनके यहाँ भी बाहर-भीतर का भेद अवान्तर—औपाधिक ही है। पर दृष्टि सृजन की है, इस कारण उनका प्रत्यय, बाहर-भीतर दोनों को एक ही डोर में सहज समेट भी लेता है। घट का उदाहरण लेता हूँ (जो शल्य जी ने लिया है)। हम अनायास सोचते हैं कि घट बाहर है और घट का प्रत्यय भीतर। पर घट क्या हमारे लिए सचमुच कोई बाहर की चीज़ है? बेगानी—जिससे हमारा कोई भीतर का सम्बन्ध ही नहीं? मिट्टी के ढेले से मिलाइये। वह बेगाना है। पर घट हमारे जीवन का, हमारी चेतना का अंग है—हमारी सृष्टि है। हम उसे भीतर से—अपनेपन के एकात्मभाव से—जानते हैं, 'कृति' के रूप में उसकी थाह ले सकते हैं, उसमें उतर सकते हैं, अपने प्रयोजन से उसे जाँच सकते हैं, अच्छा-बुरा परख सकते हैं, सुष्ठुतर बनाने की ललक पाल सकते हैं—तोड़ भी सकते हैं। मिट्टी के ढेले का क्या तोड़ना, जब तक किसी अर्थ में उसे अपनाया न हो; भीतर की वस्तु न बनाया हो। घट को बाहर कहना उसके अपनेपन को झुठलाना है। बेगाना बनाना है—मिट्टी का ढेला कर देना है (जैसा कि निवृत्ति-दर्शनों में किया ही जाता है)। घट को न लेकर घर को लीजिये तो बात और भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साफ़ है। घर को हम बाहर ही नहीं, अपने भीतर और भी स्पष्ट देख सकते हैं। प्रत्यय की धारणा शल्य जी की सृजन-दृष्टि के केन्द्र में है और व्यापक है। यहाँ उसकी कोई सर्वांगीण मीमांसा या विवेचना अभिप्रेत नहीं है। एक दिशा-ग्रहण, संकेत-ग्रहण ही यहाँ अभिप्रेत है—प्रस्तुत विचार को एक सार्थक दिगन्त देना।

पर घट में—और इससे भी अधिक घर में—हम यह भी देख सकते हैं कि भीतर और बाहर का एकात्म भाव साधा जाता है! उसे उपाय-कौशल से सृष्ट करना पड़ता है। हम ऐसा नहीं पाते हैं कि बाहर और भीतर के बीच कोई सहज-यान है—स्वच्छन्द, निर्बाध आना-जाना है। ज़रूरी नहीं कि घट घट सा ही बने; वह निष्प्रयोजन, निरर्थक भी हो सकता है; अनगढ़, 'अघट'—क्योंकि हम निरुपाय थे। घर को ही लें। घर बाहर से लाख सुघर हो, भीतर हमारे लिए विभीषिका भी हो सकता है, अगर मन से मेल न खाये। सृजन में प्रश्न यहाँ भीतर-बाहर दोनों की युगल सार्थकता का उठता है, घट से अधिक घर में दोनों का द्वन्द्व और कचोट उठता है। उचित सृजन दोनों को एकप्रज्ञ करने की साधना है। प्रकट है कि इस साधना का क्षितिज भी बाहर और भीतर दोनों ओर बढ़ता है। प्रत्यय की धारणा में बात उजागर है। विचार के लिए वहाँ बाहर-भीतर के सृष्ट 'एक' में एक तात्त्विक आश्वासन भी है।

प्रत्यय की शल्य जी की धारणा ऐसी दृष्टि में निहित है जिसमें सार्थक सृजन के तत्त्व को पकड़ने की चेष्टा है। कहना न होगा, दृष्टि औचित्य में बसी है। पर सृजन-तात्त्विक दृष्टि में औचित्य भी सृजन के क्षितिज में 'खुला' होना चाहिये। शल्य जी की 'पर्याप्ति' की धारणा अपनी तरह से बात को पकड़ती है—सृजन 'पर्याप्ति' की ओर बढ़ते रहने की निरन्तर यात्रा है, जिसमें सत्-चित्-आनन्द आत्म-सृजनमय ही है। अपने सृजन में हम उसी परम बीज की झलक पाते हैं, या यों कहिये कि हमारा सृजन ही हमें उस परम सृष्टि-तत्त्व का संकेत देता है।

शल्य जी के दर्शन में और अधिक प्रवेश के बिना भी एक बात प्रकट है—उसके चित्-वादी अद्वैती होने से ही प्रकट है—कि उनके लिए मनुष्य में यह सृजन-व्यापार मूलतः हमारी आत्मचेतना का अन्तर्व्यापार है। भीतर की साधना। ज्ञान में, भाव में, कर्म में, सृजन की धरती आत्मसृजन है—अपने ही भीतर अनात्म (दोष) के अपसारण के द्वार से आत्मा के स्वातन्त्र्य का विकास। ऐसा नहीं है कि शल्य जी के लिए बाहर के व्यापार 'मिथ्या' हैं, या प्रवृत्ति की सार्थकता को वे बाहर नहीं देखते, या मनुष्य के व्यवहार-लोक की 'सत्ता' से इन्कार करते हैं—उनके लिए सत्ता एक तारतम्य की कोटि है, आत्म-अनात्म के तारतम्य की। किसी भी प्रवृत्तिवादी के लिए मनुष्य की प्रवृत्तियाँ और उसके क्षेत्र—चाहे वे भीतर हों या बाहर हों, ये मिथ्या नहीं हो सकते। पर प्रवृत्ति सार्थकता साधती है तो सार्थकता में एक ओर जहाँ वैविध्य होगा वहीं ऊँच-नीच के सोपान भी होंगे ही।

शल्य जी के लिए सृजन में 'भीतर' तो प्रधान है ही—उसका वही आसन है, पर एक बात और है। शल्य जी के 'प्रत्यय' में विचार का भाव ही गरिम है—हालांकि ऊपर की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चर्चा से प्रकट है कि 'प्रत्यय' 'विकल्प' की तरह केवल अन्तर का शब्द-व्यापार नहीं है, बाहर भी उसका पसारा है। पर शल्य जी की अपनी प्रवृत्ति विचार है। विचार की प्रवृत्ति ऐसे छोर तक पहुँचना चाहती है जहाँ विचार में सब कुछ समा जाये, एक समग्र सा बने, एक 'परम' अवयवी। विचार में ही नहीं हमारी सभी सार्थक प्रवृत्तियों में यह प्रवणता होती है। विचार में इसे तत्त्व-दर्शन कहते हैं। आज के विचारक तत्त्व-दर्शन से कतराते हैं। शल्य जी नहीं कतराते। उभरता यह जान पड़ता है कि मनुष्य की प्रवृत्ति में बनते अर्थ-लोकों पर मनन करते हुए ही उनकी विचार-दृष्टि आत्मचेतना पर केन्द्रित हुई है, और वहाँ सृजन की किसी 'एक योनि' को ढूँढती हुई वेदान्त-प्रेरित। पर इस प्रभाव से यह भी लगता है कि वे बाहर से इन्कार तो नहीं करते, पर वह उनके लिए भीतर का अनुषंग जैसा है। 'प्रत्यय' शब्द की ध्वनि उसे विचार से जोड़ती है, भीतर की चीज़ बनाती है, और यह ध्वनि शल्य जी के यहाँ 'प्रत्यय' शब्द के व्यापक अर्थ में भी बनी रहती है।

इस बात से इन्कार भी नहीं किया जा सकता कि औचित्य की गति भीतर से बाहर की ओर ही बनती दीखती है। आत्मचेतना में स्वातन्त्र्य का स्थान हमारी चेष्टा में भी 'भीतर' ही उभरता है। एक ऐसा भीतर जो हमारे परिचित 'स्व' से भी भीतर—'प्रत्येक'—है। पर वे बाहर 'निष्पादन' भी चाहते हैं। विचार में वैसा न सही, कर्म में तो होता ही है। बाहर उसे साकार करने के लिए उपाय का कौशल भी साधना पड़ता है। यह भीतर का व्यापार नहीं है। कर्मेन्द्रिय में हम भीतर-बाहर का एक सहज द्वार तो पाते हैं जहाँ कार्य-कारण-भाव को ही निष्पादन के स्वभाव में गुँथा देखते हैं, पर इतना ना-काफी है। उपाय का एक व्यापक अर्थ भी बनता है—ऐसा क्षेत्र—या ऐसे क्षेत्र कहना अधिक उचित होगा—जहाँ उपाय अनायास नहीं होता आयास-कौशल चाहता है।

इन क्षेत्रों को निष्पादन के लोक कह सकते हैं। या उपाय के लोक कहना और ठीक लगता है—क्योंकि निष्पादन यहाँ भीतर से अधिक बाहर की चीज़ होता है। उपाय केवल कार्य-कारण की ही बात भी नहीं होती। हमने देखा कि एक नहीं कई उपाय-लोक बनते हैं। निवृत्ति को एकमुखी मान सकते हैं। प्रवृत्ति अगर कुछ भी स्वातन्त्र्य में स्थित हो तो उसे एकमुखी कहने का कोई अर्थ नहीं बनता—फिर वह प्रवृत्ति नहीं जड़ क्रिया होगी जिसकी दिशा की बात वृथा है—जो अ-मुखी ही कहला सकती है, न एकमुखी न बहुमुखी। हमारे लिए एकमुखी होना एक साधना है; स्वभाव से प्रवृत्ति बहुमुखी ही होती है। प्रवृत्तिभेद से उपेय भिन्न होते हैं। इनमें उपेय-उपाय के सम्बन्ध, उपाय का स्वरूप-स्वभाव भी भिन्न होता है। इन लोकों में भेद ही प्रधान नहीं है, इनकी परस्पर-व्यावृत्तियाँ ही नहीं, परस्पर-सम्बन्ध भी होते हैं। परिधियाँ होती हैं, क्षितिज होते हैं। हम इन्हीं लोकों में रहते हैं, ये हमारे लोक होते हैं, पर ये हमसे स्वतन्त्र भी होते हैं। इनमें हमें शिक्षित-दीक्षित भी होना पड़ता है।

आप पूछ सकते हैं कि ये प्रवृत्ति के लोक हैं तो स्वतःस्पष्ट है कि उपाय-उपेय दोनों को युगनद्ध समोये हैं, फिर मैं इन्हें उपेय-लोक क्यों नहीं कह रहा हूँ, उपाय-लोक क्यों कह रहा हूँ, उपेय-लोक कहना ही ज़्यादा स्वाभाविक और उचित नहीं जान पड़ता? इस प्रश्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का आशय ऐसे दर्शन की ओर खींचता है जहाँ भीतर का तोल अधिक है। स्वाभाविक है कि उपेय को हम पकड़ें तो भीतर की ओर मुड़ेंगे। जिन लोकों की बात हो रही है वे ज्ञान, भाव, कर्म, अध्यात्म—इनकी साधना के ही लोक हो सकते हैं, और ये हमारी अन्तर्वृत्तियाँ हैं। भीतर से इन्कार नहीं किया जा सकता, पर मैं बाहर की बात करना चाहता हूँ। जानबूझ कर इन लोकों को उपाय-लोक के रूप में देखना चाहता हूँ। यों देखिये तभी इनकी उचित पकड़ बनती है। इनका उपाय के रूप में स्वातन्त्र्य झलकता है—एक विचित्र भाव से हमारे स्वातन्त्र्य का हिस्सा होते हुए भी—एक गहरे अर्थ में हमारे ही भीतर से बाहर का विस्तार होते हुए भी—ये हमसे स्वतन्त्र उजागर होते हैं। बल्कि हम पाते हैं कि हम इनके परतन्त्र भी होते हैं—ये लोक हमारे हैं तो हमें बनाते भी हैं। तभी मैंने अभी ऊपर इनमें शिक्षा-दीक्षा की बात की।

उदाहरण लेता हूँ। भाषा की बात ऊपर कर चुका हूँ। और नृत्त की भी भाषा से चलिए, उससे हमारा परिचय होता ही है, नृत्त से न भी हो। एक की परिधि बड़ी है, दूसरे की उतनी नहीं। हम पाते हैं कि भाषा हमारी आत्मचेतना से अभिन्न है—हमारे मनुष्य होने से ही मानो एकात्म है। कई लोग तो मनुष्य की भाषा और उसकी समूची संस्कृति को ही एकात्म और एक-परिधि मानते हैं। पर भाषा और नृत्त, दोनों के क्षितिज को लीजिये तो कौन बड़ा, कौन छोटा? यह तो हमारे पुरुषार्थ की, साधना की दृष्टि की बात है कि किसमें किधर कितनी दूर जाते हैं। क्या साधते हैं। भाषा में मानो हम जन्म ही लेते हैं, बिना शिक्षा-दीखा के ही हमें मिल जाती है। पर जो मिलता है एक स्वतन्त्र लोक मिलता है। हम जल्दी जान जाते हैं कि भाषा हमारे लिए सहज है, मानो अपनी है तो भी हम से भिन्न है : उसका अपना रूप है; व्याकरण के, अर्थ के, नियम हैं, बन्धन हैं। दूसरे शब्दों में उपाय हैं जो निष्पादन चाहते हैं। जो इस अर्थ में हमसे बाहर हैं। बाहर को हम कार्य-कारण परतन्त्र कहें तो भाषा में निष्पादन कार्य-कारण को भी समोये चलता है। पर भाषा में कार्य-कारण का उतना स्थान नहीं होता—लिखने में, बोलने में जहाँ तक भाषा एक बाह्य क्रिया का समावेश करती है वहीं तक उसमें कार्य-कारण की—किसी यन्त्र जैसे कार्य-कारण की—गति है। पर ये क्रियाएँ भी भाषा का बहिरंग ही हैं। भाषा का अपना अन्तरंग, व्याकरण और शब्दार्थ-संगति का उपाय-लोक अलग है।

हम भाषा के साथ जिस लोक में जन्म लेते हैं उसे व्यवहार का साधारण संस्कार-लोक—एक अविचारित सा स्वभाव-लोक—कह सकते हैं। वह भी हमसे स्वतन्त्र होता है। हमें बनाता है। हम भी उसे बनाते हैं। वहीं से आगे दूसरे लोकों के द्वार खुलते हैं, जो उतने सहज नहीं होते हैं—पुरुषार्थ के, साधना के, करने के लोक कहला सकते हैं। इनका स्वातन्त्र्य, अपना अपना उपाय-संभार, स्पष्ट उभर कर आता है, क्योंकि हमें सीखना पड़ता है, इनकी कृतियों को गुनना होता है। गुनते हुए हम थोड़े भी आत्मचेतन द्रष्टाभाव से अपनी ओर देखें तो पायेंगे कि भाव, कर्म, ज्ञान—के इन लोकों के उपाय के साथ उपेय भी गुंथे हुए होते हैं, मानों सिद्ध से हों। यही रूढ़ियाँ हैं। इन लोकों में हमारा कुछ करना निष्पादन कहला सकता है—पर बड़ा विचित्र सा निष्पादन होता है—क्योंकि ये अर्थमय लोक हैं,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

निष्पादक जिन्हें साधता भी है, जिनसे स्वयं सधता भी है। अपने आपको एक 'निमित्त' जैसी स्थिति में पाता है। पर साथ ही स्वतन्त्र भी। सर्जक भी—ये ही अर्थलोक तो हमारी सर्जना के भी लोक हैं।

विचार भी ऐसा ही लोक है—उसके भी अपने उपाय हैं—ये कार्य-कारण के नहीं हैं, पर उपाय हैं, निष्पादन चाहते हैं, अपनी तरह का कौशल चाहते हैं। कार्य-कारण के उपाय तो एक अर्थ में वैसा बन्धन भी नहीं खड़ा करते हैं जैसा विचार में युक्ति-तर्क। ऊपर जिन अर्थ-लोकों की चर्चा की, उनमें भी बन्धन कार्य-कारण का कम, नियम-व्याकरण जैसा अधिक होता है। इन्हीं लोकों में होता हुआ भी बड़ा विचित्र लोक है विचार का : अर्थ के दूसरे और लोकों में भी अकेला विचरण कर सकता है, उसी के माध्यम से हम भिन्न लोकों को अपने सामने रख सकते हैं—एक साथ उन्हें देख, परख सकते हैं। पर हम यह भी पाते हैं कि विचार एक तरह का यायावर भी है, किसी लोक में उसका घर नहीं। उसका अपना घर क्या और कहाँ है, यह वह ढूँढता ही रहता है। वह न गा सकता है, न नाच सकता है, न भावन कर सकता है, न ज्ञान, न कर्म। फिर भी सबका अन्तरंग है, अन्तरंग ही नहीं पूरक है—इसके बिना वे भी अधूरे हैं।

ये सभी लोक बाहर और भीतर का समाहार हैं। इनमें उपाय हैं तो उपेय भी हैं, जिन्हें हम सीखते साधते हैं। दोनों हमें बाँधते हैं तो खोलते भी हैं—ये हमारे अर्थ के लोक हैं तो औचित्य-साधना के भी लोक हैं। इनमें हमारे निमित्त होने का अर्थ है कि हम इनमें निष्पाद्य और निष्पादक एक साथ होते हैं। यह बात मैं समझता हूँ, और विस्तार नहीं चाहती, प्रकट ही है। हमारी आत्मचेतना, अर्थचेतना इनसे जूझती ही रहती है।

पर इन अर्थलोकों में हमारे होने का एक और भी धरातल उभरता दिखता है। यदि इनमें सृष्टि का घर नहीं तो उसकी चौखट ज़रूर जान पड़ती है। इसे सहज का धरातल कह सकते हैं। सहज में निष्पादन जैसे मानो उपाय में होते हुए भी उससे ऊपर उठ जाता है। कुछ वैसा हो जाता है कर्मेन्द्रियों का अनायास निष्पादन। स्वरसेन निष्पादन। भीतर मानो स्वच्छन्द बाहर आ जाता है। सहज की बात भाव-लोकों में—कविता में, शिल्प में, अधिक सहज जान पड़ती है। मैं नृत्त को लूँगा, क्योंकि वहाँ भीतर का भाव कर्मेन्द्रियों के सहज द्वार से बाहर बढ़ता हुआ प्रयास-साध्य उपाय को उसी सहज में समेटने की साधना करता है। आत्मचेतना 'प्रत्यय' रचती है।

अगले अंक में नृत्त की धरती पर कर्म की बात बढ़ाऊँगा—उसके औचित्य की व्यावृत्ति के साथ उसमें उपाय-उपेय के—धर्म और नीति के—सुषम-विषम रूप की चर्चा करूँगा।

ए 36-37, विश्वामित्र मार्ग
श्याम नगर, जयपुर 302006

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध-विचार

यशदेव शल्य

(उन्मीलन के जनवरी, 2000 अंक में डॉ॰ अम्बिकादत्त शर्मा का विद्वत्तापूर्ण लेख 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि अथवा प्रमेयाद्धि प्रमाण-सिद्धिः' प्रकाशित हुआ था। उसे पढ़ते हुए ऐसा लगा कि इस प्रश्न पर सामान्यतः ही विचार का सन्दर्भ कुछ संकुचित रहा है। यहाँ हम इसे एक व्यापकतर सन्दर्भ में देखने का प्रयत्न करेंगे।)

प्रमाण की परिभाषा 'प्रमा का साधन' (प्रमायाः करणम्) की जाती है। इसे 'ज्ञान के सत्यापन में सहायक ज्ञान' इस प्रकार भी परिभाषित किया जा सकता है। इस परिभाषा में एक मौलिक कठिनाई स्पष्ट है कि, इस सहायक ज्ञान को भी, इसके ज्ञान होने से, सत्यापक ज्ञान की आवश्यकता होगी। इससे अनवस्था प्रसंग प्रसक्त होता है—कि प्रमाण स्वयं प्रमाणापेक्षी हो जाता है। ऐसे तर्क-दोषों की उद्‌भावना करने वाले नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्तनी में यह दोष दर्शाया भी है। वे कहते हैं, "यदि प्रतिपक्षी नाना अर्थों की प्रमाणतः प्रसिद्धि बतलाता है तो उसे यह भी बतलाना चाहिए कि उन प्रमाणों की प्रसिद्धि किस प्रकार होगी? यदि यह कहा जाय कि प्रमाणों से प्रमेय-सिद्धि होती है तथा एक प्रमाण से दूसरे प्रमाण की, तो अनवस्था प्रसक्त हो जाती है। और यदि प्रमाणों की प्रसिद्धि बिना प्रमाण के हो सकती है तो प्रमेयों की क्यों नहीं हो सकती?" इस आपत्ति का परिहार यह कह कर किया जा सकता है कि कुछ ज्ञान स्वतःप्रमाण होते हैं और कुछ नहीं। नागार्जुन ने इस स्वतःप्रमाणता पर भी आपत्ति उठायी है—अग्नि की स्वतःप्रकाशता को उदाहरण बना कर। वे कहते हैं "यदि यह कहा जाय कि अग्नि के समान प्रमाण अपने को तथा अपने से भिन्न प्रमेयों को प्रकाशित करता है तो यह उत्तर देना होगा कि यह दृष्टान्त विषम और भ्रान्तिमूलक है। अग्नि अपने को प्रकाशित नहीं करती क्योंकि प्रकाशन अप्रकाशित का होता है।. . . . यदि प्रमाणों की सिद्धि स्वतः मानी जाय तो उन्हें प्रमेयों की भी अपेक्षा न होगी। यदि प्रमेय-निरपेक्ष रूप से प्रमाण-सिद्धि मान ली जाय तो ये स्वतःसिद्ध प्रमाण किसी भी प्रमेय के साधन न होंगे।"[1] नागार्जुन ने यहाँ चारों ओर से घेर कर आक्रमण किया है। किन्तु इस व्यूहन की कुछ शर्तें हैं जिन्हें मानना आवश्यक नहीं है। इस चक्रव्यूह का भेदन करने के लिए प्रमाण-प्रमेय-उपचार के स्वरूप को व्यापकतर परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक है।

दार्शनिक लोग जब प्रमाण-प्रमेय के सम्बन्ध में विचार आरम्भ करते हैं तब प्रायः ऐन्द्रिय संवेदमूलक विषय-ज्ञान ही उनके विचार का विषय होता है और इस प्रकार प्रत्यक्ष उनके लिए मूल प्रमाण होता है। यूं उसमें भी इन्द्रिय-सन्निकर्ष और विकल्प का, अथवा प्रत्यक्ष और अध्यवसाय का भेद किया गया है और विकल्प अथवा अध्यवसाय को प्रायः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वस्तु-असम्बद्ध ही माना गया है, किन्तु ऐन्द्रिय संवेद भी वस्तु-सन्निकृष्ट होता या हो सकता है इसको भी कुछ दार्शनिकों ने अस्वीकार ही किया है, जैसे वसुबन्धु और बर्कले ने, और ऐसा ठीक ही किया है। किन्तु इसके लिए उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं वे स्वयं इन्द्रियमूलक नहीं हैं, यद्यपि प्रमाण-प्रमेयोपचार का सन्दर्भ देखते वे भी ऐन्द्रिय संवेदमूलक ज्ञान में ही हैं। जैसे वसुबन्धु ने स्वप्न में वस्तु-दर्शन को और तैमिरिक द्वारा द्विचन्द्र-दर्शन को अपनी प्रतिपत्ति के प्रमाण-रूप में प्रस्तुत किया है। यदि ये प्रमाण हो सकते हैं तो ये ज्ञान के असंदिग्ध साधन होने चाहिएँ। किन्तु यदि ये ज्ञान के असंदिग्ध, या किंचित् भी विश्वसनीय साधन हो सकते हैं तो विज्ञप्तिमात्रतावाद स्वतः निरस्त हो जाता है, या फिर प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार का यथार्थ ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और यह उपचार मात्र सिद्ध होता है, या यथार्थ ज्ञान केवल तर्क-ग्राह्य ज्ञान ही ठहरता है जो इन्द्रिय-सन्निकर्ष से अत्यन्त दूराकृष्ट विकल्प मात्रारूढ़ होता है। इसी तर्क के द्वारा हम यह भी यथार्थतः जान पाते हैं कि बाह्यार्थावभासन असत् है और सत् विज्ञप्ति मात्र है। किन्तु यह वंदतोव्याघात मात्र होगा, क्योंकि तर्क अर्थ का ज्ञापक हो ही नहीं सकता, क्योंकि विज्ञप्ति के अतिरिक्त और कोई अर्थ है ही नहीं, या फिर यह कहना होगा कि विज्ञप्ति जिन अर्थों को विज्ञापित करती प्रतीत होती है वे अर्थ ही असत् हैं, तर्क द्वारा विज्ञापित अर्थ असत् नहीं हैं। किन्तु द्रष्टव्य है कि वसुबन्धु तर्क को प्रातीतिक रूप से भी ज्ञापक नहीं मानते। अब यदि यह कहा जाय कि तर्क यथार्थ का प्रापक तो नहीं होता किन्तु अयथार्थ का निवर्तक होता है तो भी यह अयथार्थ की अयथार्थता का ज्ञापक और इस प्रकार युक्त प्रमाण हो जाता है। किन्तु वसुबन्धु ऐसा भी नहीं मानते, वे तो ग्राह्य-ग्राहक भेद तक को आरोप मानते हैं।

किन्तु बाह्यार्थ का निषेध एक दूसरे आधार पर भी किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि विकल्प के समान ऐन्द्रिय विज्ञप्ति भी चेतना की एक वृत्ति मात्र होती है, बाह्यार्थ से उसके सन्निकर्ष का उसी प्रकार कोई प्रश्न नहीं उठता जिस प्रकार विकल्प के बाह्यार्थ से सन्निकर्ष का प्रश्न नहीं उठता। बाह्यार्थ केवल चेतनागत एक अपेक्षा मात्र सिद्ध होता है जो अपेक्षा चेतना की सभी स्तरों की वृत्तियों की सहचारिणी होती है। उदाहरणतः वसुबन्धु द्वारा विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि के लिए दिये गये तर्क में स्वप्न-दर्शन और तैमिरिक द्वारा अयथार्थ द्विचन्द्र-दर्शन की तर्क-रचना-निमित्तक बाह्यार्थ के रूप में स्वीकृति है किन्तु ऐसा कोई बाह्यार्थ वास्तव में नहीं है।

अब यहाँ वसुबन्धु के द्वारा प्रस्तुत तर्क प्रमाण-प्रमेयात्मक हैं। वास्तव में सभी तर्क प्रमाण-प्रमेयात्मक ही होते हैं, और तर्क इन्द्रियसन्निकर्षपर्यन्त नहीं होते जो कि बाह्यार्थ का एकमात्र स्वीकृत प्रमापक माना जाता है। इस प्रकार प्रमाण का सम्बन्ध केवल बाह्यार्थ विषयक ज्ञान से ही नहीं होता। किन्तु प्रमाण की प्रमाणता में जो दीपक या अग्नि का उदाहरण दिया जाता है और स्वतःप्रामाण्य की बात की जाती है उससे यही प्रकट होता है कि दार्शनिक इस उपचार का सन्दर्भ केवल ऐन्द्रिय ज्ञान को ही मानते हैं। अवश्य अनुमान और कुछ दूसरे प्रमाण भी माने गये हैं, किन्तु वे या तो अन्ततः प्रत्यक्षमूलक हैं या केवल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

औपचारिक। 'तर्कानामप्रतिष्ठानात्' केवल औपनिषद वचन ही नहीं है, आत्यन्तिक तत्त्वमीमांसा में भी यह अधिकांशतः स्वीकृत मत है, जैसा कि 'विकल्प' को अतत्त्वपरक मानने से प्रदर्शित होता है। अवश्य न्याय-दर्शन में अध्यवसाय और जाति को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है, किन्तु वह ऐन्द्रिय ग्रहण के क्षेत्र का ही विस्तार है। निश्चय ही न्याय तर्क को भी प्रमाण स्वीकार करता है क्योंकि उसका वास्तव उपजीव्य तो तर्क ही है, किन्तु तर्क क्यों प्रमाण है, इसके लिए कोई तात्त्विक आधार वह देता है, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं है।

प्रमाण के सम्बन्ध में प्रथम और मूल प्रश्न यह है कि क्या उसकी स्वयं की प्रामाणिकता आत्माश्रित होती है या कि पराश्रित? यदि इसे आत्माश्रित कहा जाय तो नागार्जुन की आपत्ति है कि तब प्रमेय भी आत्माश्रित क्यों नहीं हो सकता, उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता क्यों समझी जाय? और यदि प्रमाण भी पराश्रित होता है तो अनवस्था प्रसंग प्रसक्त होता है। इसमें प्रथम का उत्तर हो सकता है कि क्योंकि प्रमाण प्रमेय नहीं होता, वह प्रमाण ही होता है, इसलिए प्रमाण की आवश्यकता प्रमेय को ही होती है, प्रमाण को नहीं। किन्तु यह केवल आकारिक रूप से ही युक्त उत्तर हो सकता है वास्तव में नहीं। क्योंकि वास्तव में प्रमाण भी अनुक्रमशः प्रमेय ही होते हैं। जैसे प्रत्यक्ष के बाह्यार्थ विषयक सर्वाधिक विश्वसनीय प्रमाण होने पर भी वह स्वयं भी प्रमेय ही होता है—देखी गई वस्तु स्पर्श से समर्थित होनी चाहिए, दृष्ट और स्पृष्ट वस्तु पौनःपुन्येन दर्शन-स्पर्शन से समर्थित होनी चाहिए, और इस प्रकार समर्थित वस्तु दर्शक के इस 'आत्म प्रत्यक्ष' से समर्थित होनी चाहिए कि वह मोह या स्वप्नावस्था में नहीं है, जिसकी सत्यता को सिद्धान्ततः कभी भी अन्तिम रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। समर्थनों की इस परम्परा में कहीं पर भी समर्थक का बाध पहले के सब समर्थनों को अप्रामाणिक बना देता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह अनवस्था, जिसे एक असाध्य तर्क-दोष के रूप में देखा जाता है, वास्तव में दोष नहीं हो कर प्रत्यङ्मुख चेतना की अतलान्त गहनता में अवस्थिति भी हो सकती है जिसकी ओर उपनिषद् ने 'ज्ञातारं रे केन विजानीयात्' मन्त्र द्वारा संकेत किया है। यों वास्तव में ज्ञाता अपने प्रत्येक ज्ञातृत्व को प्रत्यङ्मुख होकर जान पाता है, किन्तु यह ज्ञान-क्रिया उसे ज्ञेय के रूप में रूपान्तरित कर एक नये ज्ञातृत्व के गहनतर सोपान पर उतर जाती है। यह आत्मचेतन चेतना का अनवस्था प्रसंग है जो उसके तत्त्व की अनवगाह्य गुह्यता को दर्शाता है। प्रमाण के प्रमाणापेक्षागत अनवस्था-प्रसंग का मूल भी इसी में है।

इसे प्रमाण-प्रमेय विषयक एक साधारण उदाहरण से देखें—हम किन्हीं पद-चिह्नों को देखकर अनुमान करते हैं कि 'कोई यहाँ से चल कर गया है।' किन्तु 'वे पद-चिह्न ही हैं' यह स्वयं भी अनुमान का विषय ही होता है। इसी प्रकार हम धूम देख कर अग्नि का अनुमान करते हैं, किन्तु 'वह धूम ही है' यह स्वयं भी अनुमेय ही होता है। अब यद्यपि व्यवहारतः ये 'पद-चिह्न' और 'धूम' प्रायः असंदिग्ध होते हैं किन्तु तर्कतः ये प्रमेय ही होते हैं। किन्तु तब तर्क भी कोई स्वतःसिद्ध प्रमाण नहीं होता, क्योंकि तर्क स्वयं भाषा-व्यवहार पर, भाषा-व्यवहार सामान्यों की सत्ता के स्वीकार पर और अन्ततः सामान्यों से भी विच्छिन्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वाक्याकारों के सम्बन्ध पर आश्रित होता है और इस सम्बन्ध-व्यवस्था से इससे अधिक कुछ प्रमाणित नहीं होता कि उन वाक्यों में एक आकारिक संगति है। किन्तु यह आकारिक संगति विचार का मार्ग प्रशस्त करती है, विचार प्रमाण-प्रमेयोपचार के क्षेत्र को व्यापकतर और गहनतर बनाते हैं, जो उपचार विचार से अवर स्तर की विकल्प-बुद्धि में जन्म लेता है। विकल्प को असन्मूलक मानने वाले बौद्ध तथा वेदांती आदि और पाश्चात्य अनुभववादी स्वभावतः प्रमाण-व्यापार को भी असद्विषयक ही मानते हैं।

बाह्यार्थ को सत् मानने वालों में भी अधिक विचक्षण दार्शनिक प्रत्येक विज्ञप्ति का बाह्यार्थ से अनन्य सम्बन्ध ही मानते हैं और इस बाह्यार्थ को स्वलक्षण कहते हैं। विज्ञप्ति और वस्तु के इस प्रकार के सम्बन्ध में प्रमाण-प्रमेय-उपचार का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। इसका प्रसंग केवल विकल्प की स्थिति में ही उपस्थित होता है। विकल्पमूलक यह प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार भाषा के स्तर पर ही नहीं जैव स्तर पर भी घटित होता है। जीव मात्र का व्यवहार परतप्रमेय बाह्यार्थ को सत् स्वीकार कर ही उपचरित होता है और परिणामतः उसमें भ्रांत-अभ्रांत का भेद भी रहता है। इस प्रकार सब ऐन्द्रिक वृत्ति बाह्यार्थ के संकेत के रूप में गृहीत होती है और बाह्यार्थ के लिए सत्य या असत्य प्रमाण बनती है।

इस प्रमाण-व्यवहार में प्रमाण प्रमेय-सापेक्ष रूप में ही प्रस्तुत होता है—शिशु दृष्टि और स्पर्श के संवेदों को स्तन के और स्तन को स्तन्य के प्रमाण के रूप मे 'देखता' है जिनकी प्रामाणिकता स्तन्य की उपलब्धि तक स्थगित रहती है। उसी के जैसे वर्ण-गंध आदि किसी दूसरी अवस्था में किसी दूसरे बाह्यार्थ के लिए प्रमाण बनते हैं। प्रमेय की सिद्धि से सिद्ध-असिद्ध होने वाले ये प्रमाण भी इस प्रकार प्रमेय ही ठहरते हैं। जल के लिए प्रमाण बनी रेत की चमक जल के प्रमाण के रूप में ही असत्यापित नहीं होती, स्वयं में भी असत्यापित होती है कि वह जल-रूप देखी गई थी। यह दूसरा असत्यापन इसे असत्यापित प्रमेय बना देता है। किन्तु इससे उपस्थित होने वाला अनवस्था-प्रसंग ऐन्द्रिक विज्ञप्तियों से बहुत दूर शुद्ध विकल्प के लिए ही उपस्थित होता है, जो विकल्पात्मक ज्ञान-व्यापार में तो बहुत गहनतर तत्त्वों का प्रापक होता है किन्तु प्रत्यक्ष विषयक व्यवहार को अनवस्थित नहीं करता। उदाहरणतः हम रज्जु को सर्प समझ कर अपने चाक्षुष प्रत्यक्ष को अप्रमाणित पाते हैं, किन्तु यह प्रमाण-बाध स्पर्श और पुनः दर्शन से दूसरी अवस्थिति प्राप्त कर लेता है। इसे आप अर्थ-क्रिया-कारित्व-सिद्ध अवस्थिति भी कह सकते हैं, क्योंकि सर्प से जो अर्थ सिद्ध होते हैं वे सर्प समझी गई रज्जु से सिद्ध नहीं होने पर अन्य अर्थ के प्रापक होते हैं और उससे बाधित पूर्ववर्ती प्रमाण अन्य अर्थ के लिए प्रमाण में रूपान्तरित हो जाते हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि अर्थ-क्रियाकारित्व और तन्मूलक अनवस्था समग्रतः विकल्पमूलक होती है, निर्विकल्पक प्रत्यक्षमूलक नहीं, क्योंकि अर्थ-क्रिया अपेक्षामूलक होती है, विज्ञप्तिमूलक नहीं। विज्ञप्ति केवल किसी अपेक्षा से सम्बद्ध हो कर ही किसी अर्थ के लिए प्रमाण बनती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यहाँ नागार्जुन की सिद्ध-साधन-दोष की उद्भावना पर विचार स्थाने होगा। रज्जु-सर्प-सन्देह की स्थिति तब उपस्थित होती है जब कुछ विज्ञप्तियाँ, जो रज्जु और सर्प दोनों के लिए प्रमाण हो सकती हैं, उपलब्ध होती हैं और कुछ और विज्ञप्तियाँ, जो इनमें से केवल एक के लिए प्रमाण हो सकती हैं, उपलब्ध नहीं होतीं। इस सन्देह की स्थिति में प्रमेय सिद्ध नहीं होता, वह केवल साध्य ही होता है, जो साध्यता प्रमाणों की अपर्याप्तता के कारण होती है और प्रमाणों की पर्याप्तता-अपर्याप्तता प्रमेयमूलक होती है। इस प्रकार प्रमाणों के और प्रमेय के बीच एक सापेक्षता की स्थिति बनती है, किन्तु इस सापेक्षता में प्रमेय की सिद्धि कहीं गृहीत नहीं होती, साध्यता ही गृहीत होती है। सिद्धिपर्यन्त प्रमाणों की स्थिति भी निरालम्ब रहती है। कुछ और प्रमाण उपलब्ध होने पर प्रमेय को सिद्ध कर देते हैं और यह सिद्ध प्रमेय आलम्बनापेक्षी प्रमाणों को सालम्ब बना देता है। इस विवेचन के अनुसार प्रमाण-प्रमेय में सापेक्षता रहने पर भी सिद्ध-साधन दोष उपस्थित नहीं होता क्योंकि प्रमाणों में प्रमेय-सापेक्षता केवल इस अर्थ में होती है कि प्रमाण किसी प्रमेय की अपेक्षा से ही प्रमाण बनते हैं और उस अपेक्षा की पूर्ति ही उन्हें प्रामाणिक : युक्त प्रमाण : बनाती है, किन्तु यह अपेक्षित प्रमेय सिद्ध नहीं साध्य ही होता है। सिद्ध होने पर उसमें साध्यता समाप्त हो जाती है। प्रमाण-प्रमेय में परस्पर सापेक्षता की स्थिति इन्द्रियमूलक ज्ञान के स्तर पर ही नहीं होती विचार के स्तर पर भी होती है। शास्त्र और दर्शन में भी प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार इसी प्रकार होता है और उसमें भी प्रमेय प्रमाणों के लिए साध्य और प्रमाण प्रमेय की सिद्धिपर्यन्त निरालम्ब बने रहते हैं। यह जितना सर्प और रज्जु या धूम और अग्नि के लिए सही है उतना ही विज्ञप्तिमात्रतावाद अथवा सर्वशून्यतावाद और इनके लिए प्रस्तुत युक्तियों के लिए भी सही है।

द्रष्टव्य है कि प्रमेय और प्रमाण की यह सापेक्षता इस कारण नहीं होती कि ऐन्द्रिक विज्ञप्तियों का विज्ञाप्य असत् होने पर भी सद्वत् ग्रहण किया जाता है। ज्ञान मात्र का यही स्वरूप है कि चेतना अपने को प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय रूप में विभक्त कर ज्ञान या प्रमाण-व्यापार में प्रवृत्त होती है। इस व्यापार के अनेक स्तर और आयाम हैं, ऐन्द्रिक स्तर इनमें अवरतम है। कुछ दार्शनिक इसमें भी यथार्थ और विकल्प का भेद कर प्रमेय को विकल्प और इस प्रकार असत् घोषित करते रहे हैं और दूसरे, जैसे न्याय, अध्यवसाय (विकल्प) को भी विज्ञप्ति के ही अन्तर्गत रखते रहे हैं। इसी प्रकार ज्ञाता को भी कुछ दार्शनिक विकल्प मानते रहे हैं और कुछ नित्य ज्ञान-स्वरूप प्रतिपादित करते रहे हैं। ये दोनों ही दृष्टियां सम्यक् नहीं कही जा सकतीं। ज्ञाता और ज्ञेय या प्रमाण और प्रमेय चेतना या ज्ञान के आत्मसर्जन या आत्मान्वेषण के अभियान में उन्मीलित अंग हैं जो इस अभियान के क्रम में स्फुट से स्फुटतर होते जाते हैं। उदाहरणतः वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रतावाद या नागार्जुन के शून्यतावाद को लें। वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि ग्रन्थ में कहीं भी कोई ऐन्द्रिक संवेद (जिसे वे विज्ञान कहते हैं) विज्ञप्त नहीं बनता। उसमें केवल ऐसे विकल्प ही प्रमाण और प्रमेय रूप में घटित होते हैं जो उन विज्ञप्तियों से, जिन्हें वसुबन्धु एकमात्र ज्ञान और सत्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मानते हैं, उससे कहीं अधिक दूराकृष्ट होते हैं जितने उन विज्ञप्तियों के द्वारा लक्षित बाह्यार्थ होते हैं। इसी प्रकार नागार्जुन प्रमाण-प्रमेयादि विकल्पों सहित सब कुछ को शून्य प्रतिपादित करते हैं। किन्तु यह प्रतिपादन तर्क-प्रमाण के द्वारा ही उपचरित होता है और शून्यता उसमें प्रमेय बनती हैं। नागार्जुन इस शून्यता-प्रतिपादन को भी शून्य ही कहते हैं, किन्तु द्रष्टव्य है कि 'शून्यता' से उनका एक विशिष्ट अर्थ है। वे 'शून्यता' को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का ही पर्यायवाची पद मानते हैं।[2] किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद भौतिक या चैत्त जगत् की सत्ताओं या घटनाओं विषयक सिद्धान्त ही है, तर्क या विकल्प के क्षेत्र में इसकी इसी रूप में अवस्थिति है कि यह स्वयं तर्कमूलक है, तर्कविषयक नहीं है। इसीसे नागार्जुन की युक्तियों को परस्पर प्रतीत्यसमुत्पन्न रूप से सम्बद्ध नहीं कहा जा सकता। यदि कहा जाय कि नागार्जुन 'प्रतीत्य समुत्पाद' को मात्र कारण-कार्यता का सिद्धान्त नहीं मानते, वे उसे सापेक्षता मात्र पर व्यापक मानते हैं तो भी उससे अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि मान लें कि सब कुछ शून्य है और शून्यता का प्रतिपादक वाक्य भी शून्य है और शून्य होने पर भी वह शून्यता-प्रतिपादन में समर्थ है। किन्तु तब भी प्रश्न होगा कि इस सब में संपाद्य क्या है? इस तर्क-विधि से शून्यता की सिद्धि? किन्तु तब इससे नागार्जुन की युक्तियां शून्यता प्रमेय के लिए प्रमाण बनती हैं, फिर चाहे यह प्रमाण-प्रमेय-व्यापार स्वयं भी शून्य ही क्यों नहीं हो। किन्तु यहां यह समझना आवश्यक है कि शून्यता-प्रतिपादक प्रतिज्ञप्तियों का शून्यता-प्रमेय प्रतीत्यसमुत्पादमूलक नहीं है तर्कमूलक है, और न यह तर्क स्वतःसिद्ध है न प्रतीत्यसमुत्पाद-सिद्धान्त ही।

किन्तु द्रष्टव्य है कि प्रमाण-प्रमेय-प्रसंग केवल ज्ञान के क्षेत्र में ही उपस्थित नहीं होता, यह उतना ही धर्माधर्म-निर्णय और मूल्यांकन आदि में भी उपस्थित होता है। जैसे 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' (सद्-जनों के लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्यविषक संदेह की स्थितियों में अन्तःकरण-प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं) (अभिज्ञान शाकुन्तलम्) तथा 'किं कर्म किमकर्मेति, कवयोऽप्यत्र मोहिता' (कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्णय में अत्यन्त प्राज्ञ लोग भी भ्रमित हो जाते हैं) (श्रीमद्भगवद्गीता) में भी प्रमाण-प्रमेय की ही बात की गई है और ये प्रमाण-प्रेमय के उससे कहीं अधिक ठोस और गहन प्रसंग हैं जितने बाह्य वस्तु-ज्ञान या तर्क में होते हैं। इसी प्रकार, कृतियों का मूल्यांकन, जैसे 'यह लेख, यह उपन्यास, यह चित्र, उस लेख, उस उपन्यास, उस चित्र से श्रेष्ठतर है', अथवा कृतियों में स्वगत दोष का निर्णय भी प्रमाण-प्रमेयात्मक ही होते हैं,[3] केवल इनके प्रकारों की संख्या का उस प्रकार निर्धारण नहीं किया जा सकता है जिस प्रकार का ऐन्द्रिक विषय-ज्ञान के प्रसंग में किया जा सकता है—यद्यपि ऐन्द्रिक विषय-ज्ञान के प्रसंग में भी इसको लेकर मतभेद ही हैं। दूसरी ओर धर्माधर्म निर्णय के प्रसंग में भी इनके प्रकारों के संख्या-निर्धारण का प्रयत्न किया गया है, जैसे 'श्रुति, स्मृति, सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः' में। यों ये ज्ञान के प्रसंग ही हैं और इनमें भी हम सत्य पर ही पहुँचना चाहते हैं, केवल यह ज्ञान विषयपरक नहीं हो कर सदसत्परक या दोषादोषपरक होता है और इनमें प्रमाण की प्रामाणिकता या दोषादोष उतनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सरलता से निर्धार्य नहीं होते जितनी सरलता से ऐन्द्रिक विषय-ज्ञान के प्रसंग में निर्धार्य होते हैं। यहाँ यह निर्धारण भी अपेक्षाकृत कठिन होता है कि किस प्रमेय के लिए क्या प्रमाण उपयुक्त है। जैसे, क्या कर्त्तव्य-निर्णय में अन्तःकरण-प्रवृत्ति प्रमाण हो सकती है या नहीं? इसकी प्रमाणता उस प्रकार सहज स्पष्ट नहीं है जिस प्रकार बाह्य विषयवस्तु के ज्ञान में प्रत्यक्ष की प्रमाणता सहज स्पष्ट होती है। और सदसद्-विवेक में अन्तःकरण प्रवृत्ति की प्रमाणता स्वीकार कर लेने पर भी यह निर्णय अत्यन्त दुस्साध्य होता है कि अन्तःकरण प्रवृत्तिविशेष स्वयं में प्रामाणिक है या नहीं? किन्तु इस प्रमाण की गुह्यता से इन प्रसंगों की प्रमाण-प्रमेयात्मकता असिद्ध नहीं होती। कर्म (धर्माधर्म, कला, दर्शन आदि) में और अन्तःकरण प्रवृत्ति आदि में प्रमाण-प्रमेय-भेद इन्द्रियपरक अर्थों में प्रमाण-प्रमेय-भेद से प्रकटतः भिन्न हैं। प्रथम में प्रमेयार्थ चेतना के अन्तर्गत ही प्रतीत होते हैं जबकि दूसरे में स्पष्टतः बाह्य दिखायी देते हैं, यद्यपि बाह्य दिखायी देने से इनका बाहर होना प्रमाणित नहीं होता। यहाँ इस प्रश्न पर विचार अवान्तर होने से काँट की इस युक्त दृष्टि की ओर संकेत भर करके छोड़ा जा सकता है कि देश और काल वस्तुगत नहीं होकर इन्द्रिय-वृत्तिगत होते हैं (अ प्रायराई फोर्म्स ऑफ इन्ट्यूशन) और इस प्रकार दृष्टिगत वस्तु की बाह्यता दृष्टिमूलक ही होती है, वस्तुमूलक नहीं, तब भी यदि वस्तु विज्ञप्ति से स्वतंत्र हो। किन्तु 'बाह्यता' का एक अदैशिक रूप भी है जिससे सभी ज्ञेय या प्रमेय, और प्रमाण भी, बाह्य होते हैं। यह बाह्यता ग्रहण या अतिक्रमण के अर्थ में होती है। जैसे इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु की बाह्यता केवल इस बात में नहीं होती कि वह देश में दर्शक से बाहर दिखायी देती है बल्कि वह अपने प्रत्यय में भी ऐन्द्रिक ग्रहणों से बाह्य होती है—वह काल में देखने से पूर्व और पश्चात् विद्यमान और देश में असंख्य सम्भाव्य दृष्टि-बिन्दुओं से ग्राह्य होती है और अपनी सत्ता में अतीन्द्रिय होती है। इसी प्रकार विचार, भाव आदि के ग्राह्य विषय और विषयी होते हैं। ये अपने आयतन में इन्द्रिय-ग्राह्य विषय-वस्तुओं से कहीं अधिक बृहदाकार होते हैं। एक ही भाव की व्यंजना असंख्य कलाकृतियों द्वारा और एक ही विचार की व्याख्या असंख्य दार्शनिक प्रतिपादनों द्वारा होने पर भी ये कभी अन्तिम रूप से अवगाहित नहीं होते। यदि यह भी कहा जाय कि कलाकृति की प्रामाणिकता भाव के अवगाहन या निरूपण की पूर्णता से और कर्त्तव्य-कर्म की प्रामाणिकता कर्म की सफलता से सिद्ध नहीं होती बल्कि क्रमशः भावक और कर्त्ता के आत्मसाक्ष्य से प्रमाणित होती है तो इससे इनकी अनवगाह्यता बढ़ती ही है क्योंकि आत्मा से अधिक अनवगाह्य और क्या हो सकता है!

अब इन सभी प्रमाण-प्रसंगों में प्रमाण एक ओर प्रमेय-सापेक्ष्य होता है और दूसरी ओर स्वयं भी प्रमेय ही होता है। इससे निश्चय ही प्रमाण की आत्यन्तिक रूप से अनवस्थिति ही सिद्ध होती है और दूसरी ओर प्रमेय की आत्यन्तिक सिद्धि की असम्भवता सिद्ध होती है, किन्तु यह परिस्थिति चेतना की प्रत्यङ्मुखताजन्य अर्थ-संभार की अनवगाह्यता और अपारता को ही प्रदर्शित करती है, प्रमाण और प्रमेय की अप्रतिष्ठितता को नहीं।[4]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सन्दर्भ

1. गोविन्दचन्द्र पाण्डे बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 377, हिन्दी समिति, उ.प्र, प्रथम संस्करण से उद्धृत। मूल के लिए विग्रहव्यावर्तनी, कारिकाएँ 31-51 तथा नागार्जुन की व्याख्या द्रष्टव्य।
2. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। सा प्रज्ञप्तिरुपादाय, प्रतिपत्सैव मध्यमा। (मूल माध्यमिक कारिका, 24/18) जो प्रतीत्यसमुत्पाद है उसीको हम शून्यता कहते हैं, वही सापेक्ष निरूपण है, वही मध्यमा प्रतिपत् है।
3. द्रष्टव्य यशदेव शल्य मूल्यतत्त्व-मीमांसा में 'कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप' तथा 'धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप' अध्याय।
4. द्रष्टव्य यशदेव शल्य चिद्विमर्श में 'दर्शन का आरम्भ-विन्दु', समाज : दार्शनिक परिशीलन में 'भाषा' और सत्ताविषयक अन्वीक्षा में 'दर्शन के आधार' तथा 'अनिर्धार्य' अध्याय।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनुमान की अवधारणा एवं सन्देहवादी चुनौतियाँ (बौद्धन्याय परिप्रेक्ष्य)

अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के इतिहास में प्रमाणमीमांसा के विभिन्न प्रारूप प्राप्त होते हैं। ये सभी प्रारूप अपनी प्रकृति एवं उद्देश्य में एक-दूसरे से भिन्न होते हुए किसी-न-किसी प्रकार की तत्त्वमीमांसा का संरक्षण या साधन अवश्य करते हैं। वास्तव में यदि पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा का उद्देश्य सामाजिक धरातल पर विज्ञान को सम्यक् आधार प्रदान करना रहा है तो भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन अपने निहितार्थों के साथ किसी न किसी तत्त्वमीमांसा के संरक्षण में ही फलित हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति तथा जाति के गोत्र, बौद्धिकता एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति में भेद होने से उसकी 'विश्वदृष्टि' का भिन्न होना स्वाभाविक है। विश्वदृष्टि विषयक भेद की पृष्ठभूमि में वैकल्पिक तत्त्वमीमंसा की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यही सम्भावना विभिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय संरचनाओं को प्रस्तावित करती है। प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के अपने ही तर्क और प्रमाण होते हैं। सामान्य रूप से किसी भी प्रमाणमीमांसीय संरचना की विशिष्टता तत्सम्मत तात्त्विक दृष्टि से लोकानुभव को संस्कारित करते हुए उसकी लोकसम्मत व्याख्या एवं व्यवस्था में परिलक्षित हुआ करती है। इसीलिए कोई तत्त्वमीमांसा लोकानुभव को निर्देशित न कर उसे व्याख्यायित करने में ही मूल्यवान् और सार्थक होती है। विशेष रूप से किसी प्रमाणमीमांसीय संरचना की विशिष्टता उसके द्वारा स्वीकृत प्रमाणों की संख्या, स्वरूप, विषय एवं विनियोग में परिलक्षित हुआ करती है। कोई भी प्रमाणमीमांसा इसी स्तर पर अपनी तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत सत् के प्रतिमान की विशिष्टता को सुरक्षित रखती है। इस प्रकार यदि वैकल्पिक प्रमाणमीमांसा सम्भव है तो किसी भी प्रमाणमीमांसा की उपर्युक्त विशिष्टताएँ निरापद नहीं हो सकती हैं। उसका नितान्त विरोधी पक्ष उपस्थापित किया जा सकता है। अतएव तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता में उसे अपनी विशिष्टता को प्रतिपादित करने के लिए अपने नितान्त विरोधी पूर्वपक्ष का समुचित उत्तर देना आवश्यक हो जाता है। ऐसा करते हुए ही कोई प्रमाणमीमांसा सुसंगत एवं न्यूनाधिक रूप से उच्चतर व्यवस्था प्रदान करने का दावा कर सकती है। किन्तु एक पूर्वपक्ष है जो तत्त्वमीमांसा मात्र का पूर्वपक्ष बनता है, और वह है सन्देहवाद।

(I)

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के इतिहास में ऐसी सन्देहवादी चुनौतियों को विभिन्न तरीकों से प्रस्तुत किया गया है। यूरोप में सन्देहवादियों का सम्प्रदाय जिस रूप में विकसित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हुआ है उस तरह भारत में प्रमाणमूलक सन्देहवादियों का कोई व्यवस्थित इतिहास नहीं है। यत्र-तत्र सन्देहवादी प्रकृति के पूर्वपक्ष तो प्राप्त होते हैं लेकिन उनका कोई एक और व्यवस्थित सम्प्रदाय स्पष्ट नहीं है। स्पष्ट रूप से केवल ज्ञानश्री मित्र ने अपने अद्वैतबिन्दु नामक प्रकरण-ग्रन्थ में प्रमाणोच्छेदवादी पूर्वपक्ष का अध्याहार किया है जो किसी भी प्रमाण-मीमांसीय संरचना के फलन की सम्भावना को ही निरस्त करता है। संक्षेप में, ज्ञानश्री का कहना यह है कि यदि प्रमाण ही किसी के लिए अनिष्ट हो तो उसके लिए कुछ भी इष्ट नहीं हो सकता। भाव-अभाव की व्यवस्था के लिए प्रमाणों की प्रभुता को स्वीकार करना आवश्यक है।[1] ऐसे ही **गौतमीय न्यायशास्त्र** के विकास में कहीं कहीं अनुपलम्भवादी पूर्वपक्ष के संकेत प्राप्त होते हैं। भारतीय दर्शन में वैतण्डिकों की शैली भी सन्देहवादियों से मिलती जुलती है। सन्देहवादियों का एक प्रकार ऐसा भी है जो प्रमाणों की संभावना का ही खण्डन करता है। नागार्जुन ने अपने **विग्रहव्यावर्तनी** एवं **वैदल्यसूत्रम्** में प्रमाण-विरोधी ऐसे ही पूर्वपक्ष को उपस्थापित किया है। श्रीहर्ष अपने **खण्डनखण्डखाद्य** नामक ग्रन्थ में नैयायिकों के "मानाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः" जैसे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सिद्धान्त का खण्डन करते हुए नागार्जुन से कुछ भिन्न भूमिका में प्रतीत होते हैं। सन्देहवादियों का एक दूसरा प्रकार बहुआयामिक है जो किसी प्रमाणमीमांसीय संरचना के अन्तर्गत स्वीकृत प्रमाणों के स्वरूप, विनियोग इत्यादि को सर्वथा दोषयुक्त बतलाते हुए उसकी प्रस्थापनाओं को निरस्त करने का प्रयास करता है। इस कोटि के अग्रणी दार्शनिक जयराशि भट्ट हैं, जो प्रमाणसद्लक्षण की असम्भाव्यता को प्रदर्शित करते हुए सद्लक्षणात्मक प्रमाणों से सिद्ध होने वाले प्रमेयतन्त्र का खण्डन करते हैं। वस्तुतः भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में सन्देहवादी पूर्वपक्ष जिस किसी रूप में भी प्राप्त होते हों उन्हें मोटे तौर से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार में ऐसी चुनौतियों को रखा जा सकता है जो प्रमाण मात्र की संभावना का ही खण्डन करते हैं, दूसरे प्रकार में प्रमाणों के स्वरूप, लक्षण एवं उनके विषय को दोषयुक्त बताने वाली चुनौतियों को रखा जा सकता है। यद्यपि नागार्जुन में पहले प्रकार की और जयराशि भट्ट में दूसरे प्रकार की चुनौतियों की प्रधानता देखी जाती है तथापि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में ये दोनों इतने घुले-मिले हैं कि इनके मध्य स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचकर विशेषीकृत रूप में यहाँ विचार करना सम्भव नहीं है। प्रस्तुत निबन्ध का विवेच्य विषय यह देखने तक सीमित है कि बौद्ध नैयायिकों ने अनुमान-प्रमाण के प्रति सामान्य रूप से सन्देहवादी चुनौतियों को किस रूप में प्रस्तुत किया है और वे इसका समाधान करते हुए किस प्रकार व्याप्ति की अवधारणा को प्रतिपादित करते हैं। बौद्ध न्याय में अनुमान प्रमाण की बनावट ही ऐसी है कि उसके प्रति उत्थापित सन्देहवादी आपत्तियाँ और उनका परिहार प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। ऐसा इसलिए क्योंकि बौद्ध नैयायिकों का अनुमान विकल्पात्मक धर्म-धर्मी सम्बन्ध पर आश्रित होने से 'अयथा-अभिनिवेशिनी भ्रांति' रूप से अभिहित हुआ है[2] किन्तु फिर भी वह मनुष्य के संज्ञान के अधिकांश क्षेत्र को व्याप्त करता है। दूसरे, प्रत्यक्ष का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है तथा स्वयं प्रत्यक्ष एवं उसका ग्राह्य विषय अपनी शुद्धता में व्यवहार योग्य नहीं हैं। नैयायिकों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की अनुमिति जिस तरह प्रत्यक्षाश्रित होती है उस अर्थ में बौद्धों के अनुमित्यात्मक ज्ञान को प्रत्यक्षाश्रित भी नहीं कहा जा सकता। पुनः, बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में अनुमान प्रमाण का सार्थक एवं सुसंगत विनियोग बहुत आवश्यक भी है। यही कारण है कि धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्तिक के अन्य अध्यायों पर स्वोपज्ञवृत्ति न लिखकर 'स्वार्थानुमान परिच्छेद' पर ही स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है।

(II)

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में अनुमान-प्रमाण के प्रति तथाकथित सन्देहवादी आक्षेप व्याप्ति-सम्बन्ध पर आधारित अनुमिति के स्वरूप, विनियोग एवं प्रामाणिकता को ही प्रभावित करते हैं। पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों में सन्देहवादी आक्षेपों की प्रकृति इतिविषयक प्रायः एक जैसी रही है। ये आक्षेप या तो अनुमान की सम्भावना को या फिर उसकी प्रामाणिकता को ही निरस्त करते हैं। यही कारण है कि तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश ने अनुमान के पूर्व ही अनुमिति का निरूपण किया है।[3] ऐसा करते हुए वे व्याप्ति आदि का निर्धारण करने से पहले ही अनुमिति की सम्भावना एवं प्रामाणिकता को सुनिश्चित कर लेते हैं। धर्मकीर्ति तो गङ्गेश से बहुत पहले ही इस दृष्टि को आत्मसात् किये हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने प्रमाणवार्तिक के प्रत्यक्ष परिच्छेद में अनुमान पर विचार करते हुए सर्वप्रथम उसकी प्रामाणिकता को ही स्थिर किया है।[4] संक्षेप में, धर्मकीर्ति यह उपस्थापित करते हैं कि एक ही तत्त्व-स्वलक्षण का स्वरूपेण ग्रहण प्रत्यक्षतः होता है और उसी की पररूपेण गति (ज्ञान) अनुमानतः होती है। स्वलक्षण का पररूपेण ज्ञान नाम-जात्यादि विकल्पों से विकल्पित "सामान्यलक्षण" रूप में होता है। अतः स्वलक्षण की पररूपेण गति यदि भ्रांति में पर्यवसित होती है तब अनुमान में प्रमाणता नहीं बन सकती। इसका समाधान करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि अर्थक्रिया के साधन भूत अर्थ की प्रापकता ही प्रमाणता है। अनुमान में अभिप्रेत अर्थ की प्रापकता का अविसंवाद सुरक्षित रहता है। यद्यपि अनुमान अवस्तुविषयक होता है, फिर भी उसका अभिप्रेत अर्थ से सारूप्य-निबन्धन होने के कारण मणि-प्रभा ज्ञान से मणि की उपलब्धि की तरह अनुमान की प्रमाणता में कोई बाधा नहीं है। बौद्ध न्याय में अनुमान को "अयथा-अभिनिवेशिनी भ्रांति" कहने का यही अभिप्राय है।[5]

बौद्धन्याय-सम्मत अनुमान-प्रमाण के प्रति तथाकथित सन्देहवादी आक्षेपों को कमलशील ने निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है। प्रथमतः अनुमान हेतु-त्रैरूप्यपूर्वक फलित होता है, लेकिन त्रैरूप्य-हेतु मिथ्यानुभव में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। अतः अनुमिति के प्रमात्व और अप्रमात्व का निश्चय ही संभव नहीं है। यथा—चक्षुरादि इन्द्रियाँ परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए होती हैं, क्योंकि ये सब संघात वस्तुएँ हैं—जैसे कुर्सी, पलंग इत्यादि। परञ्च चक्षुरादि इन्द्रियाँ स्वयं के लिए भी होती है।[6] इनका सर्वत्र परार्थ के लिए होना आवश्यक नहीं है।

द्वितीयतः, त्रैरूप्य की उपलब्धि ऐसे स्थलों पर भी संभव है जहाँ अनुमिति का फलन या तो होता ही नहीं या फिर अनावश्यक होता है। अतः हेतु की त्रिरूपता ही अनुमिति का कारण हो[7], यह आवश्यक नहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तृतीयतः, अनुमान-साधन में सर्वत्र विरोध या व्यभिचार सम्भव होने से उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।[8] उदाहरण के लिए ध्वनि अनित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होती है। पुनः, ध्वनि नित्य है क्योंकि वह आकाश की तरह अमूर्त है।

चतुर्थतः, धूम से अग्नि का अनुमान तभी संभव है जब हम पहले से ही यह जानें कि अग्नि में धूम व्याप्त होता है। ऐसे ज्ञान में नवीनता का अभाव होने से उसे प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता।[9]

पंचमतः, व्याप्ति पर आधारित अनुमान तब तक वैध नहीं हो सकता जब तक सकल वह्नि और धूम के सम्बन्ध को प्रत्यक्षीकृत न कर लिया जाये। यह असम्भव है। यदि एक अनुमान को दूसरे अनुमान पर आश्रित माना जाय तो अनवस्थासक्ति होगी। यदि शब्दप्रमाण (आप्तवचन) के द्वारा व्याप्ति का निश्चय स्वीकार किया जाय तो यह स्वयं अनुमान पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय-दोष से ग्रसित हो जायेगा।[10]

(III)

बौद्ध नैयायिकों ने अनुमान-प्रमाण के प्रति उपर्युक्त सन्देहवादी आक्षेपों का सम्यक् रूप से परिहार करते हुए अनुमान की आवश्यकता, महत्त्व एवं फलन तथा वैधता को प्रतिपादित किया है। साथ ही इस तथ्य को भी उद्घाटित किया है कि तथाकथित सन्देहवादी भी अनुमान का खण्डन करते हुए अनजाने में ही सही लेकिन अनुमान का प्रयोग कर रहे होते हैं। अतः अनुमान की सम्भाव्यता या असम्भाव्यता का प्रश्न नहीं है, बल्कि प्रश्न तो केवल वैध अनुमान के स्वरूप एवं फलन का है।

प्रथमतः, अनुमान-प्रमाण की आवश्यकता एवं महत्त्व को व्यावहारिक रूप से प्रतिष्ठापित करते हुए कहा जा सकता है कि युक्ति और प्रमाण से पुष्ट प्रवृत्ति ही समर्थ जीवन-साधक होती है। ऐसी प्रवृत्तियों को नितान्त प्रत्यक्ष तक सीमित नहीं किया जा सकता। व्यवहार में परोक्ष प्रवृत्तियों का ही बाहुल्य होता है। परोक्ष प्रवृत्तियों को समर्थ प्रवृत्ति बनाने के लिए अनुमान-प्रमाण आवश्यक है।

द्वितीयतः, धर्मकीर्ति ने प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से अनुमान-प्रमाण की आवश्यकता एवं महत्त्व को उद्घाटित करते हुए प्रमाणसामान्य एवं अप्रमाण-सामान्य सम्पादन के लिए अनुमान को आवश्यक बताया है। धर्मकीर्ति का यह प्रस्ताव किसी भी प्रमाणमीमांसीय संरचना के अन्तर्गत प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमान प्रमाण की आवश्यकता को सुनिश्चित करता है। किसी भी ज्ञान को प्रमाण या अप्रमाण सिद्ध करने के लिए उस ज्ञान का अर्थ के साथ क्रमशः अविसंवाद या विसंवाद का होना आवश्यक है। यह मिथ्या ज्ञान और विसंवाद तथा सत्यज्ञान और अविसंवाद के मध्य अविनाभाव के बिना सम्भव नहीं। अतः अनुमान प्रमाण अपरिहार्य है।[11]

तृतीयतः, बौद्ध न्याय में अनुमान के प्रति पूर्वोक्त प्रथम आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि मिथ्या ज्ञान में हेतु-त्रैरूप्य की उपलब्धि सम्भव नहीं। व्यभिचार-प्रदर्शन के लिए प्रस्तुत किये गये अनुमान में कुछ भी ऐसा नहीं दिखाया जा सकता जो असंघात वस्तु होते हुए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी परार्थ हो। पुनः त्रैरूप्य-हेतु से सम्पुष्ट अनुमान व्यवहार का अविसंवाद होता है, लेकिन मिथ्या ज्ञान में ऐसा अविसंवाद उपलब्ध नहीं रहता। यदि आक्षेपक प्रवृत्ति-साफल्य के आधार पर प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं तो उन्हीं गुण-लक्षणों के आधार पर अनुमान की प्रामाणिकता को स्वीकार करने में क्या हानि है?

चतुर्थतः, पूर्वोक्त दूसरा आक्षेप भी उचित नहीं है, क्योंकि उसमें प्रत्यक्षादि प्रमाणों के मध्य अनुमान की विशिष्टता को समाप्त करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः यह अनुमान की स्वतन्त्र प्रमाणता का विरोध है, जबकि त्रैरूप्य हेतु से सम्पन्न व्याप्ति पर आधारित होना ही अनुमान को प्रत्यक्ष से व्यावृत्त करता है।[12] आक्षेपक कोई ऐसा उदाहरण नहीं प्रस्तुत कर सकता जहाँ त्रैरूप्य हेतु-पूर्वक ज्ञान होता हो लेकिन उसे अनुमिति न कहा जा सके। पुनः, यह कहना कि हेतु-त्रैरूप्य वहाँ भी उपलब्ध होता है जहाँ अनुमान की वस्तुतः आवश्यकता नहीं होती, यह बात प्रमाणसम्प्लव के कारण तब उठती है जब किसी वस्तु के ज्ञान के लिए उपजीव्य अथवा बलाबल की दृष्टि से बलीयसी प्रमाण उपलब्ध हो किन्तु फिर भी द्वैतीयक प्रमाण को प्रयुक्त किया जाता हो। बौद्धों की प्रमाणमीमांसा में इस समस्या के लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि वे प्रमाण-व्यवस्थावादी हैं।

पञ्चतः, पूर्वोक्त तृतीय आक्षेप अपने आप में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसे अनुमान का विप्रतिषेध या पॉराडॉक्स कहा जा सकता है, क्योंकि यह सभी और सर्वत्र अनुमान में विरोध-प्रसंग की सम्भावना को प्रस्तावित करता है। यह बात सही है कि कुछ अनुमान विरोधग्रस्त हो सकते हैं लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सभी अनुमान विरोधग्रस्त होते हैं। दिङ्नाग ने तो विरुद्धाव्यभिचारी हेतु को स्वयं ही हेत्वाभास के अन्तर्गत परिगणित किया है। कमलशील ने इस आक्षेप का विरोध कूट तर्क से करते हुए कहा है कि किसी अनुमान विशेष में विरोध-प्रसंग को उपस्थापित कर अनुमान मात्र की अप्रामाण्य प्रसिद्धि के लिए भी एक वैध अनुमान अपेक्षित होता है।[13]

षष्ठतः, पूर्वोक्त चतुर्थ आक्षेप भी उचित नहीं है। इसे उचित तब कहा जा सकता था जब यह स्वीकार किया जाता कि अनुमेय पदार्थ अग्नि या अग्नि और धूम का सम्बन्ध अनुमान की प्रक्रिया में हेतु और साध्य रूप से पहले ही ज्ञात होते हैं। परञ्च बौद्ध नैयायिकों की दृष्टि में अग्नि-विशिष्ट देश का अनुमान होने से "अनुवादकत्वात् अप्रामाण्यम्" का आक्षेप सर्वथा अयुक्त है।

सप्ततः, पूर्वोक्त अन्तिम आक्षेप भी बौद्ध नैयायिकों के व्याप्ति स्वरूप एवं व्याप्तिग्रह की अवधारणा के साथ न्याय नहीं करता। बौद्ध नैयायिकों द्वारा अन्तर्व्याप्ति का समर्थन तथा तादात्म्य और तदुत्पत्तिपूर्वकव्याप्ति का निश्चय सहचार-दर्शन एवं व्यभिचार-अदर्शन का मुखापेक्षी नहीं है। अतः हेतु और साध्य के सकल उद्धरणों को प्रत्यक्षीकृत करने के उपरांत व्याप्ति-निश्चय और वैध अनुमान के फलन का प्रस्ताव उचित नहीं है।

वस्तुतः ऐसे कूट तर्कों से सन्देहवादी आक्षेपों का परिहार करना ही पर्याप्त नहीं है। बौद्ध नैयायिक एक कदम आगे बढ़कर अभाव ज्ञान, पर-चित्त-ज्ञान और परलोक-निवारण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के लिए सन्देहवादी वैचारिकी अर्थात् लोकायतिकों की वैचारिकी की अनुमत सीमा में भी अनुमान की अनिवार्यता को आवश्यक बताते हैं।[14]

(IV)

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से इतना ही इंगित होता है कि अनुमान एक सम्भव और सार्थक प्रमाण हो सकता है। इसके समुचित प्रयोग से प्रामाणिक एवं निश्चयात्मक ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। ध्यातव्य है कि अनुमान एक निर्णयात्मक कोटि का ज्ञान है। आनुमानिक निश्चय को एक अभिकथन से निगमित दूसरे अभिकथनात्मक निर्णय के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए जिसमें निष्कर्ष वाक्य की सत्यता एवं असत्यता आधार वाक्य की सत्यता एवं असत्यता की समानुपाती होती है। वस्तुतः अभिकथनात्मक तर्कशास्त्र के निर्णय आकारिक होते हैं और इस कारण तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से तटस्थ होते हैं, जबकि आनुमानिक निश्चय लोकानुभव एवं लोकसत्य से सम्बन्धित होने के कारण एक तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि की अपेक्षा रखते हैं। प्राच्य तर्कविद्या एवं पाश्चात्य आकारिक तर्कशास्त्र के अनुमान में यही उल्लेखनीय अन्तर है। सभी दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय संरचना में अनुमान की तात्त्विक पृष्ठभूमि एक जैसी हो, यह आवश्यक नहीं है। परञ्च वैध अनुमान के फलित होने के लिए न्यूनतम तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि के रूप में सम्बन्धों का एक जैसा ढाँचा आवश्यक है जिसमें हेतु और साध्य के मध्य एक विशेष प्रकार का अनिवार्य एवं सार्वभौम सम्बन्ध स्थापित हो सके। तर्करसिक नैयायिकों के मत में सभी सम्बन्ध बाह्य एवं वस्तुगत होते हैं, जबकि बौद्ध नैयायिकों के मत में सब सम्बन्ध आन्तरिक एवं विकल्पात्मक अथवा मानसिक संरचना मात्र हैं। बौद्ध नैयायिकों की यह विशिष्टता है कि वे विकल्पात्मक धर्म-धर्मी सम्बन्ध के आधार पर अनुमान प्रमाण को खड़ा करते हैं। अनुमान के लिए हेतु और साध्य के मध्य अनिवार्य सम्बन्ध का होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसे ज्ञात भी होना चाहिए। ऐसे सम्बन्ध की कुछ वर्जनाएँ भी हो सकती हैं। यदि संभव वर्जनाओं से मुक्त दो वस्तुओं या विषयों के मध्य अनिवार्य एवं सार्वभौम सम्बन्ध की अवधारणा प्रतिपादित हो जाती है तब अनुमान के विनियोग में कोई बाधा नहीं। हेतु और साध्य के मध्य ऐसे ही सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। भारतीय न्यायशास्त्र के इतिहास में व्याप्ति-सम्बन्ध के कतिपय उपनाम भी प्राप्त होते हैं। **न्यायसिद्धान्तदीप** में व्याप्ति को सम्बन्ध मात्र (भासर्वज्ञ), अव्यभिचारित्व (श्रीधर), अविनाभाव (प्रशस्तपाद एवं दिङ्नाग), स्वाभाविक सम्बन्ध (त्रिलोचन) न्रिमित्त-नैमित्तिकभाव (साँख्याचार्य), तादात्म्य सम्बन्ध (धर्मकीर्ति), विशिष्ट-वैशिष्ट्य-भाव, साध्याभाव-व्यापकाभाव प्रतियोगित्व, कार्त्स्नेन साधन-साध्य सहभाव (वल्लभ), अनौपाधिक सम्बन्ध (उदयन), एवं साधनत्वाभिमतसमानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगी समानाधिकरण्य इत्यादि कहा गया है। हेतु-विमर्श के प्रसंग में परिगणित उपर्युक्त एकादश उपनामों में व्याप्ति-स्वरूप के संपूर्ण ऐतिहासिक विकास को देखा जा सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में हम व्याप्ति-स्वरूप के विकास का विस्तृत विवेचन नहीं कर पा रहे हैं। यहाँ विचारणीय है कि दो या दो से अधिक प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में व्याप्ति-सम्बन्ध के स्वरूप में भेद क्यों होता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है? यदि इस प्रश्न को उसके तार्किक निष्कर्ष तक ले जाया जाय तो यही फलित होगा कि तत्तद् दर्शनों की तात्त्विक पृष्ठभूमि में भेद होने से उनकी प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में सम्बन्ध की अवधारणा भिन्न-भिन्न होती है, एतावता व्याप्ति-स्वरूप की व्याख्या में भेद का परिलक्षित होना स्वाभाविक है।

(V)

न्याय-मत में सम्बन्धों की वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा में सभी सम्बन्ध बाह्य एवं वस्तुगत होते हैं। "अभिधेयत्वं ज्ञेयत्वं पदार्थत्वम्' के निकष पर दो वस्तुओं का सम्बन्ध भी उतना ही यथार्थ होता है जितना कि दोनों सम्बन्धी यथार्थ होते हैं। सम्बन्धों की वस्तुवादी तात्त्विक पृष्ठभूमि में नैयायिक "व्याप्ति-सम्बन्ध" को सहचार-नियम या अविनाभाव नियम के रूप में अवधारित करते हैं। सहचार-नियम दो वस्तुओं की साथ साथ उपस्थिति या उपलब्धि है। अविनाभाव नियम से दो वस्तुओं की पारस्परिक निर्भरता का भाव द्योतित होता है। उदाहरण के लिए 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्नि' में यत् एवं तत् की सहस्थिति को सहचार तथा यत् विशेषण धूम एवं तत् विशेषण वह्नि की पारस्परिक निर्भरता को अविनाभाव कहा जा सकता है। अन्वय-व्यतिरेक-पद्धति से व्याप्ति के केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वय-व्यतिरेकी नामक त्रिविध प्रकार हो सकते हैं। व्याप्ति-सम्बन्ध के इन प्रकारों के द्वारा हेतु का स्वरूप तथा अनुमान फलन में हेतु की प्रस्थिति एवं भूमिका निर्धारित होती है। इन सब के बावजूद व्याप्ति हेतु और साध्य के मध्य घटित होने वाला अनिवार्य सम्बन्ध है जिसकी कुछ अपनी विशिष्टताएँ होती हैं। काल्पनिकता के बदले वस्तुगतता, आत्मनिष्ठता के बदले वस्तुनिष्ठता, सोपाधिकता के बदले अनौपाधिकता और व्यभिचारित्व के बदले अव्यभिचारित्व, आकस्मिकता के बदले अनिवार्यता इसकी मुख्य विशिष्टताएँ हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि नैयायिकों की वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा में इस प्रकार का व्याप्तिसम्बन्ध सम्भव है या नहीं? यदि संभव है तो क्या यह निरपवाद रूप से लोक-सत्यों पर घटित भी होता है? यदि सम्भव भी है और घटित भी होता है तो परिशेषतः इसका ग्रहण किस प्रकार होता है? वस्तुतः न्यायसम्मत व्याप्ति-चिन्ता में तद्ग्रहोपाय ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

नैयायिकों की वैचारिक योजना में व्याप्ति का ग्रहण मात्र प्रत्यक्ष से होता है, क्योंकि अनुमान सदैव प्रत्यक्षाश्रित है, लेकिन इसका नियमीकरण आगमनात्मक सामान्यीकरण की पद्धति से सम्पादित होता है। सर्वप्रथम दो वस्तुओं के साहचर्य का अन्वयात्मक निरीक्षण, तदुपरान्त उनके साहचर्य का व्यतिरेकात्मक परीक्षण और अन्त में सपक्षस्थलीय व्यभिचाराग्रह-अनुमोदन के पश्चात् दो वस्तुओं में व्याप्ति रूप स्वाभाविक सम्बन्ध की स्थापना की जा सकती है। परञ्च उपर्युक्त प्रक्रिया से अनौपाधिकता का प्रश्न शेष ही रह जाता है। पुनः, सौपाधिकता की सम्भावना मात्र से उसे अनिवार्यता प्रदान नहीं की जा सकती। नैयायिक दो वस्तुओं के अन्वय-व्यतिरेकात्मक साहचर्य के 'भूयोदर्शन" पूर्वक व्याप्ति-सम्बन्ध की सौपोधिकता का निराकरण स्वीकार करते हैं। यदि भूयोदर्शन के पश्चात्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी संदिग्ध व्याप्ति की संभावना बनी रहे तो तर्क की सहायता से सन्देह का निराकरण श्रेयस्कर होता है। विरोधी स्थितियों एवं निष्कर्षों की असिद्धि तथा उसके मानने पर व्यवहार में व्याघात-प्रदर्शनपूर्वक परोक्षरूपेण व्याप्ति-निश्चय में सहयोग प्रदान करने में तर्क एवं युक्तियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। किन्तु इतना होने पर भी व्याप्ति-सम्बन्ध की सार्वभौमिकता प्रतिपादित नहीं होती है। निरीक्षण की प्रविधि से हम एक से अनेक की ओर बढ़ तो सकते हैं लेकिन अन्ततः सकल के रूप में उनका सामान्यीकरण सम्भव नहीं है। सकल धूम एवं सकल वह्नि में अनिवार्य, सार्वभौमिक व्याप्ति-निश्चय के लिए धूमत्व जाति एवं अग्नित्व जाति में व्याप्ति-सम्बन्ध का ग्रहण आवश्यक है। नैयायिकों के अनुसार सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति नामक अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा धूमत्व जाति एवं अग्नित्व जाति के मध्य व्याप्ति का ग्रहण होता है। यदि एकत्व, नित्यत्व और अनेक समवेतत्व रूप जाति या सामान्य की वस्तुगत सत्ता तथा जाति-व्यक्ति के मध्य समवाय-सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया जाय तो वह्नि एवं धूम विशेष के साहचर्य, यहाँ तक कि एकस्थलीय साहचर्य-दर्शनपूर्वक व्याप्ति-ग्रहण को सामान्य-लक्षणाप्रत्यासत्ति प्रत्यक्ष के द्वारा सकल धूम एवं सकल वह्नि के मध्य साहचर्य नियम रूप व्याप्ति में रूपान्तरित किया जा सकता है। वस्तुतः न्यायसूत्र से तत्त्वचिन्तामणि पर्यन्त व्याप्ति-चिन्तन के निष्कर्ष "सकल साध्यवान् व्याप्ति" को ही गङ्गेश ने अपने सिद्धान्त-लक्षण के माध्यम से उद्घाटित किया है।

यद्यपि पंचावयव वाक्यों में फलित अनुमान को नैयायिक परम प्रमाण मानते हैं और उनकी व्याप्ति-विषयक चिन्ता अत्यन्त विवेचित है, तथापि समीक्षात्मक दृष्टि से कुछ खामियों को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—नैयायिकों का तर्क वस्तुओं का और वस्तुओं पर लागू होने वाला तर्क है और साथ ही साथ इनका अनुमान आवश्यक रूप से प्रत्यक्षाश्रित होता है। ये दोनों बातें एक साथ "सम्भावनामात्रेण लिङ्गोपन्यासः न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्येत"[15] अर्थात् लिङ्ग के आधार पर लिङ्गी का ज्ञान निश्चयात्मकता में नहीं बल्कि सम्भावना मात्र में पर्यवसित हो जाता है। वस्तुविशेष और प्रत्यक्षविशेष की पुनः पुनः आवृत्तिपूर्वक आगमनात्मक सामान्यीकरण के आधार पर निर्मित सभी सम्बन्ध अन्ततः अस्तित्वात्मक दृष्टि से दुर्बल ही होते हैं। इन दुर्बलताओं से बचने के लिए यदि नैयायिक सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति का आश्रय लेते हैं तो यह प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षता का अतार्किक विस्तार ही है। प्रत्यक्ष अपनी विशुद्धता में जब सविकल्पकता को ही बहिष्कृत करता है तो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के लिए कहाँ अवकाश है? पुनः, बौद्ध नैयायिकों ने जिस तरह प्रत्यक्ष की निर्विकल्पकता को उद्घाटित किया है वह एक अर्थ में अनुमान की प्रत्यक्षाश्रितता का निराकरण ही है। अन्ततः नैयायिकों पर लगाये जाने वाले इस प्रकार के सारे आक्षेप निराधार हो सकते हैं, लेकिन केवल तब जब यह स्वीकार किया जाना सम्भव हो कि एक, नित्य, अनेकानुगत जाति की वास्तविक सत्ता है और जाति-व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध होता है। बौद्ध नैयायिकों ने सामान्य की सत्ता को सर्वतोभावेन विप्रतिपत्तियुक्त बताते हुए वस्तुतः न्यायसम्मत व्याप्ति की अवधारणा के तात्त्विक आधार को ही ध्वस्त कर दिया है। दूसरी ओर धर्मकीर्ति ने अपनी सम्बन्ध-परीक्षा में सारे सम्बन्धों की वस्तुनिष्ठता का निराकरण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

करते हुए सम्बन्ध मात्र को विकल्पात्मक सिद्ध किया है।[16] यह भी नैयायिकों के सम्बन्धात्मक ढाँचे का आत्यन्तिक निषेध है जिसमें उनकी संपूर्ण प्रमाण-मीमांसा अथवा कारणतामूलक प्रमाणमीमांसा फलित होती है।

(VI)

बौद्ध नैयायिकों की तत्त्वमीमांसा नैयायिकों से बिल्कुल भिन्न है। एतदर्थ उभयसम्मत अनुमान-प्रमाण की संरचना एवं व्याप्ति-स्वरूप-निश्चय में आत्यन्तिक भेद परिलक्षित होता है। बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण नामक दो ही विषय हैं। तदनुरूप एवं तद्वशात् प्रत्यक्ष एवं अनुमान नामक दो ही प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। यदि प्रमेयद्वयपूर्वक ही प्रमाण-द्वित्व इष्ट हो तो तृतीय प्रमाण के लिए अवकाश ही कहां है?[17] वस्तुतः बौद्ध नैयायिकों के अभिमत में सकल निर्विकल्पक कलापों का प्रत्यक्ष में और निखिल सविकल्पक कलापों का अनुमिति में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्यक्ष के विषय स्वलक्षण हैं जबकि अनुमान सामान्यलक्षण को अपना विषय बनाता है। स्वलक्षण परमार्थसत् है और सामान्यलक्षण को संवृतिसत् अथवा विकल्प कोटि में रखा गया है। परमार्थसत् स्वलक्षण के स्तर पर किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं है। विकल्पात्मक धर्म-धर्मी-सम्बन्धों की व्यवस्था केवल सामान्य लक्षण के स्तर पर ही की जा सकती है। अतः अनुमान की मूलभित्ति स्वलक्षण नहीं बल्कि सामान्य लक्षण है। यद्यपि विकल्पात्मक धर्म-धर्मी सम्बन्ध की परिधि में सामान्य लक्षण को विषय करने वाला अनुमान अपने स्वरूप में पारमार्थिक दृष्टि से "अयथा अभिनेवेशिनी भ्रांति" है तथापि अविसंवादी होने के कारण ही प्रमाण है। यही कारण है कि बौद्धन्याय में पारमार्थिक-प्रामाण्य और साँवृतिक प्रामाण्य में भेद किया गया है। अज्ञातार्थप्रकाशकत्व (प्रत्यक्ष) पारमार्थिक प्रामाण्य का लक्षण और अविसंवादकत्व (अनुमान) सांवृतिक प्रामाण्य-लक्षण बनता है।[18] अतएव कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों के अनुमान की तात्त्विक पृष्ठभूमि बाह्यार्थवादी नहीं है और उनका तर्कशास्त्र मूलभूत रूप में वस्तुओं से नहीं बल्कि सम्प्रत्ययों अथवा विकल्पों से सम्बन्धित है। यह बात अलग है कि विकल्प भी वस्तुओं के ही होते हैं या विकल्प में ही वस्तुएँ होती हैं अथवा विकल्प ही वस्तुएँ हैं। सम्प्रत्ययों या विकल्पों के विश्लेषण एवं अनुमान में उनके व्यत्यय से ही आनुमानिक ज्ञान में निश्चितता को अंतिम रूप से प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ ध्यातव्य है कि सम्प्रत्यय या विकल्पों से सम्बन्धित और उसी में अनुप्रयुक्त होते हुए भी बौद्ध न्याय में आकारिकता का समावेश नहीं होता है। विकल्प आकाशकुसुमवत् अलीक नहीं बल्कि स्वलक्षण के सापेक्ष और उसी पर आरोपित होते हैं। बौद्ध नैयायिकों की शब्दावली में, सामान्यलक्षण कुछ नहीं, अध्यवसित स्वलक्षण ही है। माध्यमिक और दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति द्वारा विकसित न्याय-शास्त्रीय समीक्षा में मूलभूत अन्तर आकारिकता और स्वलक्षण-सापेक्ष विकल्परूपता को लेकर ही है।

वस्तुतः उपर्युक्त पृष्ठभूमि में बौद्ध नैयायिकों का अनुमान एवं व्याप्ति-स्वरूप-निश्चय का संपूर्ण प्रयास व्याप्ति-सम्बन्ध पर आश्रित अनुमिति के प्रागनुभविक कारकों का अन्वेषण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। प्रागनुभविक कारकों से हमारा अभिप्राय प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्पों के परस्पर समायोजन एवं संश्लेषण के द्वारा अनुभव-तंत्र की बनावट से है। यही वह सविकल्पक अनुभव है जिसके साथ हम लोक-व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। अनुमेय और अनुमापक होने के सभी प्रतिबन्धों का उद्‌भव एवं निर्धारण तथा उसका विकल्पात्मक विन्यास यही होता है। यही कारण है कि बौद्ध नैयायिकों ने "साहचर्य नियम" रूप व्याप्ति के बदले "स्वभाव प्रतिबन्ध" नामक व्याप्ति को वैध अनुमान के फलन के लिए आवश्यक शर्त बताया है। नैयायिक एवं बौद्ध नैयायिक दोनों ही व्याप्ति के लिए यत्र-तत्र "अविनाभावनियम" शब्द का प्रयोग करते हैं, लेकिन दोनों सम्प्रदायों में 'नियम' शब्द का प्रयोग समानार्थी नहीं है। बौद्ध नैयायिक 'नियम' को स्वभावप्रतिबन्ध के रूप में समझते हैं जबकि नैयायिकों का नियम एक प्रकार का आगमनात्मक सामान्यीकरण है। नियम के इस द्विविध अर्थ में किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु का अनुमापक होना भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। यह भेद अनुमेय की निश्चितता में मात्रात्मक भेद को आवश्यक रूप से प्रस्तावित करता है। यही बौद्ध न्याय में अनुमान का वैशिष्ट्य है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार स्वभाव-प्रतिबन्ध के तादात्म्य-लक्षण एवं तदुत्पत्ति-लक्षण नामक दो प्रकार हैं। हेतु और साध्य के मध्य अविनाभाव नियमरूप व्याप्ति इन्हीं दो सम्बन्धों के द्वारा गृहीत होती है। तादात्म्य का अर्थ तदात्मा से है। अर्थात् वह साध्य अर्थ जिसका आत्मस्वभाव हो, वही तदात्मा और उसके भाव को तादात्म्य कहा जाता है।[19] तादात्म्य रूप से जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु के आत्मस्वरूप होती है वही उसके बिना नहीं रह सकती है। अतएव तादात्म्य सम्बन्ध को अविनाभाव का नियामक कहा जाता है। बौद्धसम्मत तादात्म्य सम्बन्ध की व्याख्या में प्राचीन तथा अर्वाचीन कुछ व्याख्याकारों में बहुत मतभेद है। कहीं इसकी व्याख्या समानाधिकरण्य के रूप में तो कहीं वर्गान्तर्भाव के रूप में की जाती है। परञ्च इसकी बौद्धसम्मत व्याख्या कुछ भिन्न होनी चाहिए। ध्यातव्य है कि धर्मकीर्ति अपने **सम्बन्ध-परीक्षा** नामक ग्रन्थ में तादात्म्यादि सभी सम्बन्धों को विकल्पात्मक सिद्ध करते हैं। पुनः, समानाधिकरण्य एवं वर्गान्तर्भाव आदि पद वस्तुवादी दर्शनों के वस्तुनिष्ठ सम्बन्धों के ढाँचे पर भी लागू होते हैं। अतएव बौद्ध नैयायिकों के द्वारा वस्तुनिष्ठ सम्बन्धों के निराकरण को ध्यान में रखते हुए केवल अपोहात्मक दृष्टि से ही तादात्म्यसम्बन्ध की व्याख्या और व्यवस्था की जा सकती है। सर्वप्रथम दो या दो से अधिक व्यक्तियों में समान अतद्व्यावृत्ति प्रयुक्त होने से एक अपोहात्मक सामान्य बुद्धि में आकारित होती है और तत्पश्चात् उस अपोहात्मक सामान्य के साथ तत्तद् व्यक्तियों के समानाधिकरण्य और वर्गान्तर्भाव रूप तादात्म्य की व्याख्या की जा सकती है। बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में शिंशपा और वृक्ष के मध्य ऐसा ही तादात्म्य सम्बन्ध विवक्षित है। यह कोई वास्तविक और वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है बल्कि अपोहात्मक रूप से आकारित और नियत विकल्पात्मक अथवा सांवृतिक ही है। तादात्म्य के अतिरिक्त तदुत्पत्ति सम्बन्ध अर्थात् कार्यकारण सम्बन्ध के द्वारा भी स्वभाव प्रतिबन्ध रूप अविनाभाव का ग्रहण होता है। यहाँ भी कार्यकारण सम्बन्ध का अभिप्राय तात्त्विक नहीं बल्कि 'क्रमग्रहणमेव कार्यकारणभाव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ग्रहणम्' अभिप्रेत है। कुछ बौद्ध नैयायिकों ने अनुपलब्धि को भी अविनाभाव का नियामक माना है, लेकिन बाद में इसका अन्तर्भाव तदुत्पत्ति लक्षण अर्थात् कार्य हेतु में ही कर दिया गया।

(VII)

इस प्रकार बौद्ध नैयायिकों का प्रबल पक्ष यह है कि अविनाभाव का नियामक सपक्ष में दर्शन एवं विपक्ष में अदर्शन नहीं है प्रत्युत सद्-हेतु का नियामक तादात्म्य-तदुत्पत्ति-लक्षण वाला स्वभाव-प्रतिबन्ध ही है।[20] यहाँ प्रतिपक्षियों के द्वारा आपत्ति उठाई जा सकती है कि क्या तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के अन्तर्गत व्यवहार-दशा की उन सभी स्थितियों को समाविष्ट किया जा सकता है जहाँ हम अनुमान का आलम्बन लेकर व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं? यह प्रश्न निश्चित रूप से विचारणीय है। बौद्ध नैयायिकों के लिए यह प्रश्न विशेष महत्त्व का इसलिए भी हो जाता है क्योंकि इनके अभिमत में अनुमान निखिल सविकल्पक ज्ञान के क्षेत्र को अवाप्त करता है। इसीलिए ब्राह्मण न्याय के दार्शनिकों, यथा पार्थसरथी मिश्र, श्रीधर, जयन्तभट्ट, वाचस्पति मिश्र इत्यादि ने ऐसे अनेक व्यवहारस्थलों का संकेत किया है जहाँ तादात्म्य-तदुत्पत्ति हेतु उपलब्ध नहीं होते फिर भी अनुमान-व्यवहार होता है। यहाँ हम इसका सविस्तार प्रतिपादन नहीं कर पा रहे हैं। संक्षेप में हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि व्यवहार में अनुमान-प्रमाण का प्रयोग अधिकांशतः सहचार दर्शन और व्यभिचार अदर्शन के आधार पर ही होता है, लेकिन जब इसका सैद्धांतिक आधार गवेष्य होता है तब प्रत्येक प्रमाणमीमांसक अपनी अपनी तत्त्वमीमांसा के अनुरूप इसकी व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। जहाँ तक अनुमान के वैध फलन के लिए परिनिष्ठित व्याप्ति के निर्धारण का प्रश्न है तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तादात्म्य-तदुत्पत्ति-रूप अविनाभाव का नियम एक मज़बूत आधार प्रदान करता है। केवल सपक्ष दर्शन और विपक्ष अदर्शन के आधार पर नियत साहचर्य नियम रूप व्याप्ति में व्यभिचार की सम्भावना सर्वदा बनी रहती है, क्योंकि वह तार्किक दृष्टि से आकस्मिक सम्बन्ध ही कहा जा सकता है। जहाँ तक व्याप्ति-ग्रहोपाय अर्थात् व्याप्ति-निश्चय के लिए साधक प्रमाणों का प्रश्न है तो धर्मकीर्ति ने हेतुबिन्दु में इतना ही कहा है कि इन सबका निश्चय यथायोग्य प्रमाणों के द्वारा होता है।[21] तात्पर्य यह है कि जो जिसका आत्मीय प्रमाण के रूप में निश्चायक होता है उसका उसके द्वारा ही निश्चय होता है। परवर्ती बौद्ध नैयायिकों ने त्रैकारिणी एवं पंचकारिणी विधि के रूप में इसे विकसित किया है।

सन्दर्भः

1. रत्नकीर्ति निबन्धावली, के. पी. जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना, पृ. 96 अनिष्टश्चेत् प्रमाणं हि सर्वेष्टिनां निबन्धनम्। भावाभाव व्यवस्था कः कर्तुमन्तेन विना प्रभुः।
2. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिकम्, प्रत्यक्ष परि 55, अयथाभिनिवेशेन द्वितीया भ्रान्तिरिष्यते। गतिश्चेत् पररूपेण न च भ्रान्तेः प्रमाणता॥
3. गङ्गेश उपाध्याय, तत्त्वचिन्तामणि, प्रामाण्यवादः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

4. धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिकम् 2/55, 56, अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता। गतिरप्यन्यथा दृष्टा, पक्षश्चायं कृतोत्तरः ॥
5. द्रष्टव्य : प्रमाणवार्तिकम् प्रत्यक्ष परि-11 एवं 12. इन कारिकाओं में प्रकृत समस्या की गम्भीर विवचेना हुई है।
6. स्वार्थानुमानं प्रमाणं न भवति, त्रिरूपलिङ्गपूर्ववत्वान्मिथ्याज्ञानत्वात्। कमलशील, तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ. 426, पंक्ति 3-4 सेन्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा, 1926
7. वही, पृ. 426, पंक्ति 5-6 न च त्रैरूप्यं अनुमितिकरणं, अननुमानेऽपि भावाद् द्वैरूप्यवत्।
8. वही, पृ. 426, पंक्ति 9-10. सर्वत्र साधनेऽनुमानविरोधः सम्भवति, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्। पुनश्च नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् आकाशवत्।
9. वही, पृ. 427, पंक्ति, 6, अनुवादकत्वात् न प्रमाणम्।
10. वही, पृ. 427, पंक्ति 24-25 यस्मात् साक्षात् अनुमेयाप्रकाशकत्वं तस्मान् न श्रोत्रापेक्षया वचसः प्रामाण्यम् अविनाभाव-सम्बन्ध-ज्ञानवत् इति।
11. प्रज्ञाकरगुप्त, प्रमाणवार्तिकालङ्कारभाष्य, परार्थानुमान परिचछेद, 204 एवं-अर्थस्य सम्भवे भावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता। प्रतिबद्ध-स्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम् 11 धर्मकीर्ति की यह कारिका हेमचन्द्र ने अपनी प्रमाणमीमांसा 1-1-11 में उद्धृत की है।
12. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह 14/1
13. कमलशील, तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ. 429, पंक्ति 26-27 इष्यते न च विशेषः साधयितुमिष्टः...।
14. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिकम् प्रत्यक्षपरिच्छेद 67-68
15. बृहदारण्यक उप. शां. भाष्य, आनन्दगिरी टीका से उद्धृत।
16. धर्मकीर्ति, सम्बन्ध परीक्षा, 4, द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धौ यदि तद्द्वयौ। कः सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा ॥ धर्मकीर्ति की यह एक कारिका नैयायिकों के सम्बन्धानिक ढांचे को विप्रतिपत्तियुक्त बताने के लिए पर्याप्त है।
17. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिकम् 2/63-64
न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः।तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते।।
त्रैकसंख्या निरासो वा प्रमेयद्वय दर्शनात्।एकमेवाप्रमेयत्वाद् सतश्चेन्मतं च नः॥
18. प्रमाणवार्तिकालङ्कारभाष्य स्वामी योगीन्द्रानन्द संस्करण, पृ. 70 तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत। पूर्वं तु संव्यावहारिकस्य।
19. धर्मोत्तर न्यायबिन्दु टीका, 2/19
20. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक 3/14, कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमो दर्शनान्न नादर्शनात् ॥
21. धर्मकीर्ति हेतुबिन्दु पृ. 53, पक्षधर्मश्च यथास्वं प्रमाणेन निश्चितः उक्तः।

दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साहित्य और संस्कृति

रामेश्वरप्रसाद मिश्र (पंकज)

'साहित्य और संस्कृति' विषयक शल्य जी के व्याख्यान (जनवरी, 97 अंक) पर मुझे भी कुछ कहना है। इस विषय में मेरी दृष्टि में विचार सम्बन्धी कुछ बाधाएँ ये हैं कि कम से कम दो शब्दों (पदों) के अर्थ के विषय में इन दिनों कोई बौद्धिक स्पष्टता हिन्दी में (और अन्य भारतीय भाषाओं में भी) नहीं है। वे हैं 'संस्कृति' एवं 'दर्शन'। 'संस्कृति' पद नितांत नया है और वह 'कल्चर' के अनुवाद के रूप में सामने लाया गया है। जैसा कि स्वयं शल्य जी ने इसी व्याख्यान में कहा ही है—किसी समाज की व्यापक रुचियों, अभिवृत्तियों, रहन-सहन की विधाओं को भी संस्कृति कहा जाता है; साहित्य, संगीत, दर्शन आदिगत विशिष्टताओं को भी संस्कृति कहा जाता है और मूल्यों-आदर्शों आदि के संस्थान या व्यवस्था या व्यवस्थापक दृष्टि को भी संस्कृति कहा जाता है ('मूल्य' प्रत्यय भी इसी भाँति व्यापक एवं अस्पष्ट है)। तब, संस्कृति किसी समाज का व्यवहार है, धर्म है, परम्परा है, ज्ञान-विज्ञान-प्रवाह है, पुरुषार्थ-प्रवाह है। अच्छा, इतना व्यापक अर्थ ले भी लें तब भी कुछ समस्याएँ हैं। क्या किसी समाज के पाप, अनाचार, अधर्म, नृशंसता, क्रूरता और विकृतियाँ भी संस्कृति ही कहे जायेंगे? शल्य जी तो इन्हें समाज के स्वभाव से विचलन अतः विकृति ही मानेंगे। परन्तु तब यूरोप के कतिपय देशों द्वारा विश्व के अन्य श्रेष्ठ समाजों के बर्बर दमन, नृशंस उत्पीड़न, उन्हें उपनिवेश बनाने, अपने अधीन दबाकर रखने, धर्मांतरण करने एवं शिक्षा तथा ज्ञानतंत्र को बलपूर्वक रूपान्तरित करने को यूरोपीय संस्कृति की सहज वृत्ति या लक्षण लोगों द्वारा किस आधार पर माना जाता है? या कि भारतीय शासन द्वारा पचास वर्ष से भारतीय समाज की अपनी विद्या-परम्पराओं, ज्ञान-परम्पराओं एवं धर्म-परम्पराओं की नियोजित उपेक्षा और तिरस्कार तथा विधर्मी ज्ञान-परम्परा में भारत की नियोजित दीक्षा तथा रूपान्तरण को भारतीय संस्कृति किस आधार पर कहा जाता है? भारतीय मानव-संसाधन विकास मंत्रालय एवं संस्कृति-मंत्रालय ने इसके सिवाय और कुछ बहुत कम ही किया है भारतीय संस्कृति के नाम पर विगत पचास वर्षों में। अतः 'संस्कृति' शब्द पर इस समय भारतीय समाज में अस्पष्टता, अत्यन्त मत-भिन्नता तथा विभ्रम है। तथापि शल्य जी स्वयं संस्कृति के अर्थ के विषय में अत्यन्त स्पष्ट प्रतिपादन कर चुके हैं। अतः यहाँ हम संस्कृति को शल्य जी द्वारा प्रतिपादित अर्थ में ही लेंगे।

ऐसा दूसरा पद है 'दर्शन'। यह भी प्रचलित अर्थ में अपेक्षाकृत नया ही है। वेदों में इस पद का इसके 'फिलोसोफी' वाले अर्थ में कहीं भी प्रयोग नहीं है। उपनिषद् विविध हेतुओं (कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या) के चिन्तन की बात करते हैं और 'विद्या' पद का ही प्रयोग करते हैं। पाणिनि ने विविध दृष्टियों के लिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'मति' पद का प्रयोग किया है और बौद्ध तथा जैन साहित्य में 'दिट्ठि' (दृष्टि) पद प्रयुक्त है। मत, सिद्धान्त आदि पद ही प्राचीन हैं। 'दर्शन' शब्द वस्तुतः योगदर्शन के लिए ही सम्यक् है, क्योंकि उसमें चितिशक्ति का प्रत्यक्ष दर्शन किया जाता है। यद्यपि वहाँ भी पंचशिख आचार्य का यह मत **योगसूत्र** के भाष्य में दिया गया है कि 'ख्यातिरेव दर्शनम्', अर्थात् बुद्धिवृत्ति या बौद्धिक (बुद्धिगत या बौद्ध) प्रकाश ही सामान्यतः (भ्रान्तिवश) दर्शन मान लिया जाता है। तथापि शुद्धा, अनन्ता, अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा, दर्शितविषया चितिशक्ति का दर्शन योगसाधाना द्वारा किया जाता है अतः उसे ही 'दर्शन' कहना सम्यक् है। शेष तो सिद्धान्त, मत, मति और दृष्टियाँ ही हैं। श्रुतियाँ प्रत्यक्ष ज्ञान हैं, अतः उन्हें भी 'फिलासफी' वाले अर्थ में 'दर्शन' कहना सम्यक् नहीं है। वे तो आप्तवचन हैं, दार्शनिक ऊहापोह नहीं।

ऐसी स्थिति में दर्शन 'फिलासफी' का सामान्यतः वह कार्य नहीं है जो शल्य जी मानते व बताते हैं। वह तो कतिपय विशिष्ट दर्शनों का कार्य कहा जा सकता है। यूरोप के अनेक दर्शन हैं जिनके प्रतिपाद्य आधारभूत तत्त्व या सत्ता के मौलिक स्वरूप की अन्वीक्षा नहीं है। डेकार्ट, मार्क्स, मूर, रसल, कार्नप, विट्गेंस्टाइन, न्यूराथ, एअर आदि में से किसी के भी दर्शन का प्रतिपाद्य सत्ताविषयक मूल अन्वीक्षा नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना सही नहीं है कि दर्शन सामान्यतः ही धर्म और मोक्षपरक अर्थों का अवगाहन विषयता के पक्ष से करता है।

इसी प्रकार शास्त्र और विज्ञान (साइंस) भी मोक्ष पुरुषार्थ विषयक ही विमर्श करें, यह सामान्य तथ्य नहीं है। साइंस का बहुलांश तो अर्थमूलक एवं काममूलक विमर्श एवं अवगाहन ही है। थ्योरेटिकल साइंसिज़ भी पदार्थ या प्रकृति के मौलिक तत्त्व सम्बन्धी विमर्श एवं अवगाहन मोक्षमूलक दृष्टि से नहीं करते। उनका उद्देश्य नियंत्रण, प्रभुत्व एवं भोग ही होता है। अतः उस दृष्टि से साइंसिज़ का अन्वेष्य काम एवं अर्थ पुरुषार्थ ही है, यद्यपि धर्म पुरुषार्थ की भी साइंसिज़ के ज्ञान द्वारा प्रेरणा मिलती है।

यहाँ एक तो यह स्मरणीय है, और जैसा शल्य जी ने भी स्पष्ट कहा है, कि काम एवं अर्थ—दोनों धर्ममूलक होने पर ही पुरुषार्थ हैं, अन्यथा वे ऐन्द्रिक एवं मानसिक आवेग हैं, जो बुद्धि-बल के अविवेकपूर्ण प्रयोग द्वारा पुष्ट एवं तृप्त होते रहते हैं। इसीलिए श्रीमद्भगवद् गीता में योगेश्वर कृष्ण स्वयं को प्राणियों में स्थित 'धर्म-अविरुद्ध काम' कहते हैं तथा इसीलिए अर्थशास्त्र (वार्ता शास्त्र) को 'धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ही राजनीति-लक्षण अर्थशास्त्र' ('धर्मशास्त्रान्तर्गतमेव राजनीति-लक्षणम् अर्थशास्त्रम् इदं विवक्षितम'—**याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा टीका**) कहा गया है।

न तो सेक्स या शृंगारादि मात्र काम हैं, न ही धन मात्र अर्थ है। कामना करना ही 'काम' है। समस्त कामनाएँ धर्ममूलक होने पर काम पुरुषार्थ की अंग हैं। उनकी सिद्धि या सफलता अर्थ पुरुषार्थ का अंग है (अर्थ=सिद्धि या प्रयोजन, साध्य)। इसीलिए अर्थ एवं काम दोनों धर्म के अधीन हैं। धर्म के विरुद्ध कामना करना एवं साधन-संग्रह तथा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अर्थ-प्राप्ति (लक्ष्य-सिद्धि) पुरुषार्थ नहीं है, अधर्म है, धर्म-च्युति है। इसी प्रकार स्वधर्मानुकूल कर्त्तव्य-सम्पादन ही धर्म पुरुषार्थ है। स्वधर्म त्याग कर यदि धर्म वर्ग के (पूजनादि, भक्ति, दान आदि, मन्दिर, देव-दर्शनादि, ऋषि-साधु दर्शनादि) कार्य करें तो वे कर्म हानिकर तो नहीं हैं किन्तु तब वे धर्म-पुरुषार्थ नहीं कहलाएंगे, धार्मिक चेष्टाएँ मात्र कहलाएंगे। और यदि वे स्वधर्म की हानि कर किये जा रहे हों तो अनुचित माने जा सकते हैं। इसी प्रकार मोक्ष के नाम पर यदि स्वैराचार किया जाए तो वह अविवेक का लक्षण होगा, अतः दण्डनीय एवं शासित किया जाने योग्य होगा।

दूसरी बात यह कि मोक्ष परम पुरुषार्थ है। परन्तु परम का अर्थ मूल या मुख्य नहीं है। वह सर्वोच्च एवं सबसे परे का पुरुषार्थ है। समस्त पुरुषार्थों से परे जा सकने की स्थिति के अर्थ में ही मोक्ष सर्वोच्च पुरुषार्थ है। अतः समाज की दृष्टि से मोक्ष का अर्थ है पुरुषार्थों की परिसमाप्ति, पुरुषार्थ का विलोम, पुरुषार्थ का अदर्शन। पुरुषार्थ की सम्पन्नतापूर्वक निवर्तना। अतः मोक्ष सामाजिक जीवन का लक्ष्य नहीं है। जीवन के लक्ष्यों को जिसके ज्ञान से अधिप्रमाणित किया जाता है, जो समस्त जीवन-लक्ष्यों के यथार्थ को और परमार्थ को प्रकाशित करता है, वह है परम पुरुषार्थ। वह सामान्य अर्थ में लौकिक नहीं है। वह लोकोत्तर या अतिलौकिक पुरुषार्थ है। मोक्ष मनुष्य का सामन्य धर्म नहीं है। वह परम धर्म है। विशिष्ट धर्म है। मनुस्मृति ने स्पष्ट कहा है कि समस्त मनुष्यों के लिए तीन ही पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ और काम। यही त्रिवर्ग है। ये तीनों ही लोक-जीवन में साध्य पुरुषार्थ हैं, यानी सामाजिक पुरुषार्थ हैं। मोक्ष निजी पुरुषार्थ है। वह वैयक्तिक पुरुषार्थ है। यद्यपि समस्त धर्मों का धरक धर्म है मोक्ष तथापि वह स्थिति समाजों, संस्कृतियों से प्राक् है, पूर्व है या चाहें तो कह लें सबसे उत्तर है, ऊपर है, परे है। इसीलिए मोक्ष सामासिक धर्म या सामान्य धर्म नहीं है। वह कभी भी सार्वभौम मानवीय लक्षण या लक्ष्य नहीं रहा है। धर्म तो किसी न किसी रूप में विश्व के प्रत्येक या अनेक या अधिकांश समाजों का लक्ष्य रहा है। परन्तु मोक्ष विश्व में मानव-समाज का सामाजिक लक्ष्य आज तक नहीं रहा है। भगवान बुद्ध कहते हैं 'अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जनाः पारगामिनः। इतरस्तु प्रजा सर्वा तीरमेवानुगच्छति॥'

इसीलिए मोक्ष भारत में भी सभी मनुष्यों का, या सभी धर्मनिष्ठ मनुष्यों का भी, वास्तविक जीवन-लक्ष्य नहीं रहा है। जन-सामान्य के लिए वह एक दूरस्थ और सम्भावित लक्ष्य (आकांक्षा या स्मृति रूप में) मात्र रहा है। सो भी भारत में ही तथा भारत से प्रज्ञा के स्तर पर जुड़े कतिपय अन्य देशों-समाजों में। किसी भी ईसाई, यहूदी एवं मुस्लिम समाज का दूरस्थ लक्ष्य भी मोक्ष नहीं रहा है कदापि। हैवन, जन्नत, पैराडाइज़ आदि ही इन समाजों के चरम लक्ष्य हैं, जबकि साहित्य तो इन सभी समाजों में रहा ही है और है ही। अतः मोक्ष को धर्म, अर्थ एवं काम की कोटि का सामाजिक पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारत में तथा भारतीय प्रज्ञा से सम्बद्ध समाजों में अवश्य मोक्ष-साधना समाज के लिए वरेण्य पुरुषार्थ है। परन्तु मोक्ष-सिद्धि वर्णनातीत स्थिति है। अतः वह संस्कृति से परे की स्थिति है। सामाजिकता से परे की स्थिति है। समाज-सामान्य एवं समाज-विशेष, दोनों से परे की स्थिति है, दोनों से पूर्व की स्थिति है। उस स्थिति में स्थित व्यक्ति द्वारा किया गया समाज का वर्णन या प्रतिपादन, संस्कृति का वर्णन या प्रतिपादन, साहित्य का निरूपण या प्रवचन आप्त-कथन है। इसलिए उस स्थिति तक पहुँचने की साधना भारत में वरेण्य पुरुषार्थ मान्य है। मोक्ष-साधना सामाजिक कर्म है। मोक्ष-सिद्धि समाजातीत स्थिति है, जबकि काम-सिद्धि, अर्थ-सिद्धि एवं धर्म-सिद्धि सभी सामाजिक कर्म हैं, समाज में स्थित रहकर किये गये कर्म हैं। उन कर्मों का सामाजिक सन्दर्भ अनिवार्यतः होता है। उनका समाज पर प्रभाव-परिणाम अवश्य होता है। मोक्षि-सिद्धि का समाज पर प्रभाव होता भी हो तो वह भाषातीत, वर्णनातीत, विचार से परे होता है। आप्त-वचन के रूप में वह प्रभाव समाज को अनुग्रह रूप में अवश्य मिल सकता है। पर ऐसा अनुग्रह निश्चित एवं अनिवार्य नहीं है, आगन्तुक है। हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है।

जहाँ तक मोक्ष-साधना की बात है, उसका अनिवार्य सामाजिक सन्दर्भ एवं पक्ष है। उस अर्थ में मोक्ष-साधना भी प्रवृत्ति ही है। अन्य समस्त प्रवृत्तियों से निवृत्ति की प्रवृत्ति। आत्मज्ञान की प्रवृत्ति। आत्मस्थ होने की, आत्मबोध की, आत्मरूप-दर्शन की या आत्मदर्शन की प्रवृत्ति। अनात्म से निवर्तन की प्रवृत्ति। यह शुद्धा, अनन्ता, अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा, दर्शितविषया, चिति शक्ति में द्रष्टा की अवस्थिति है। अन्यत्र द्रष्टा किसी भाव, विचार, विषय आदि में अवस्थित रहता है—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति आदि में। मोक्ष-साधना इन सभी से निवर्तन की प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति मात्र का स्रोत क्या है, उनसे परे का तत्त्व या उनसे परे की स्थिति क्या है, यह जानने की साधना है मोक्ष-साधना। साधना के रूप में वह प्रवृत्ति है, धर्म है। उसे मोक्ष-धर्म कहते हैं। मोक्ष-साधना का अर्थ है मोक्ष-धर्म की सिद्धि की प्रक्रिया। उस प्रक्रिया को देखकर समाज में राग, मोह, आसक्ति और आपाधापी की सीमा की, अल्पत्व की, अनैश्वर्य की प्रतीति होती है, अतः वास्तविक ऐश्वर्य की, भूमा की, भूयसी विद्या की स्मृति जगती है। यह है मोक्ष-साधना का मुख्य सामाजिक सन्दर्भ। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह प्रभृति सार्वभौम महाव्रतों का प्रत्यक्ष एवं प्रामाणिक पालन होता देखकर इन यमों की स्मृति जाग्रत एवं जीवन्त होती है तथा रहती है। हिंसा, झूठ, चोरी, रति-लिप्सा और संग्रह-लिप्सा का अनौचित्य या व्यर्थता या अधर्ममूलकता प्रकट होती है। यह है इसका सामाजिक पक्ष एवं सन्दर्भ।

अतः मोक्ष-साधना धर्म पुरुषार्थ है। केवल मोक्ष-सिद्धि ही मोक्ष-पुरुषार्थ है। संस्कृति का अंग मोक्ष-साधना ही है, जो कि एक विशिष्ट धर्म-पुरुषार्थ है। काम, अर्थ एवं धर्म ही सामाजिक पुरुषार्थ हैं। इनमें भी काम और अर्थ की धर्ममूलकता ही उन्हें पुरुषार्थ बनाती है। इस प्रकार, धर्म ही वस्तुतः एवं मुख्यतः सामाजिक पुरुषार्थ है। जीवन-वैविध्य का सहवर्ती है धर्म-वैविध्य। अतः विचारणीय वह धर्म-वैविध्य-सम्पन्न धर्म ही है। इस प्रकार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हमारे लिए धर्म-विचार का स्वरूप होगा—विविध कार्य-क्षेत्रों, जीवन-क्षेत्रों, समाज-क्षेत्रों एवं विचार-क्षेत्रों या विद्या-क्षेत्रों के धर्म पर विशद विचार करना। साहित्य का धर्म क्या है, धर्मशास्त्र का धर्म क्या है, राजनीतिशास्त्र का धर्म क्या है, चित्रकला, नृत्यकला, नाट्यकला, नाट्यशास्त्र, नृत्यशास्त्र, चित्र-शास्त्र आदि के धर्म क्या-क्या हैं, शिल्पशास्त्र का धर्म क्या है, कृषिशास्त्र, गोरक्षाशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र के धर्म क्या क्या हैं—इस प्रकार विचार ही सम्यक् है। साहित्य के सन्दर्भ में हम यह विचार तो कर सकते हैं कि साहित्य का धर्म क्या है तथा अन्य क्षेत्रों के धर्म से उसके सम्बन्ध का स्वरूप क्या है, परन्तु साहित्य को काम-पुरुषार्थ-प्रधान कहना असम्यक् है। साहित्य-धर्म का स्वरूप विशिष्ट है, दर्शन-धर्म उससे पृथक् है, शास्त्र-धर्म पृथक्। अतः साहित्य या किसी भी धर्म-रूप की नितान्त अन्य प्रकार के धर्म-रूप से तुलना समीचीन नहीं है। एक ही धर्म-क्षेत्र के भिन्न स्तर एवं भिन्न भिन्न रूप-भेद परस्पर तुलनीय हो सकते हैं। काम एवं अर्थ पुरुषार्थ-क्षेत्र के भी धर्म परस्पर तुलनीय नहीं हैं, जबकि काम-क्षेत्र के भिन्न-भिन्न धर्म-रूपों में परस्पर तर-तम भाव का निर्धारण सम्भव है। धर्म-अधर्म विभेद तो आवश्यक है ही, यानी काम के कौन से रूप धर्ममय हैं, कौन से अधर्ममय, यह विवेचनीय विषय है। इसी प्रकार अर्थ के भी। इसी प्रकार मोक्ष-साधना के भी भिन्न भिन्न रूपों में परस्पर तुलनात्मक विमर्श धर्म-समृद्धि की कसौटी पर सम्भव है और उपादेय भी हो सकता है। उदाहरणार्थ अजामिल और गणिका को भी मोक्षलाभ हुआ और प्रह्लाद, ध्रुव, हरिश्चन्द्र आदि को भी। मोक्ष-सिद्धि की दृष्टि से तो ये सभी समान हैं परन्तु मोक्ष-साधना-भेद से इनमें प्रचण्ड अन्तर है और धर्म-साधना-भेद से भी। धर्म साधना में हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, ध्रुव आदि अत्यन्त समृद्ध हैं; अजामिल, गणिका अत्यन्त दरिद्र। अतः धर्म एवं समाज की दृष्टि से इनमें स्पष्ट तर-तम भाव या तुलनात्मक विमर्श सम्भव है एवं करणीय है। इसी प्रकार, महात्मा गाँधी भी मोक्ष-साधक थे और उसी समय अनेक साधु-चित्त नर-नारी भारत में मोक्ष-साधना कर रहे होंगे तथा अनेक ने मोक्ष-सिद्धि भी प्राप्त की ही होगी। परन्तु धर्म एवं समाज की दृष्टि से महात्मा गाँधी की मोक्ष-साधना समृद्धतम है क्योंकि उसमें धर्म की विराट् साधना का ऐश्वर्य प्रकट हुआ। मोक्ष-लाभ तो जैसे गाँधी जी को हुआ होगा वैसे ही उन सैकड़ों या हज़ारों अन्य उनके समकालीन सत्यनिष्ठ, तपस्वी, धर्मनिष्ठ भारतीयों को भी हुआ होगा। परन्तु जैसा धर्ममूलक वैभव गाँधी जी में प्रकट हुआ, वैसा उनमें नहीं। अतः परम पुरुषार्थ की दृष्टि से जहाँ वे सभी एक समान हैं, समाज के लिए उनके महत्त्व में प्रचण्ड भेद है। धर्म-पुरुषार्थ का स्वरूप एवं ऐश्वर्य ही इस भेद का निर्धारक है। किसी गाँव का कोई भी पवित्र, धर्मनिष्ठ, श्रेष्ठ व्यक्ति अपने शील एवं सदाचार, भक्ति एवं साधनामय जीवन से उसी अवधि में मोक्ष का अधिकारी हुआ हो सकता है, परन्तु उसकी मोक्ष-साधना (यानि धर्म पुरुषार्थ का उसका रूप) भारतवर्ष के उत्कर्ष एवं कल्याण के लिए वैसी सहायक, प्रेरक एवं प्रकाशक नहीं हुई जैसी महात्मा गाँधी की। इसीलिए मोक्ष-साधना का सामाजिक सन्दर्भ है (क्योंकि वह धर्म पुरुषार्थ है)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

काम का अर्थ कामनाएँ हैं, संकल्प है और सर्जनात्मकता है, मात्र शृंगार या सेक्स नहीं (स्वयं शल्य जी ने 'सोऽकामयत बहु स्याम' का दृष्टान्त दिया है) अतः धर्म में भी काम का प्राबल्य होता है। काम केवल आह्लादात्मकता नहीं है, उससे भी पहले वह संकल्पात्मकता, सम्प्रेषण-कामना, रागात्मकता तथा आन्तरिक समृद्धि की अभीप्सा है। पुरुषार्थ की प्रत्येक कामना सर्वप्रथम काम-पुरुषार्थ है। उसके बाद वह कुछ और है—त्रिवर्ग में से कुछ। धर्म-कामना भी काम पुरुषार्थ एवं धर्म पुरुषार्थ दोनों साथ-साथ है। इसी प्रकार मोक्ष-कामना भी काम-पुरुषार्थ तथा धर्म-पुरुषार्थ होने के साथ साथ साधना की प्रेरक होने के कारण मोक्ष-पुरुषार्थ की साधना का अंग है। वस्तुतः किसी भी पुरुषार्थ-प्रयत्न को सदा केवल एक पुरुषार्थ का अंग नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक प्रधानताभेद से उनकी संज्ञा निर्धारित करने का प्रश्न है, यदि ऐसा करें (जो ठीक ही होगा) तो भी धर्म, अर्थ एवं काम के त्रिवर्ग में कोई तारतम्य-निर्धारण सम्भव नहीं, क्योंकि वे सभी पुरुषार्थ हैं। एक गहरे अर्थ में धर्म ही वास्तविक एवं एकमात्र लौकिक पुरुषार्थ है। काम एवं अर्थ धर्ममय होने पर ही पुरुषार्थ हैं, अन्यथा नहीं। स्वयं धार्मिक मानी जाने वाली क्रियाओं एवं भावों तथा विचारों का भी मौलिक एवं बृहत् अर्थ में धर्ममय होना आवश्यक है, अन्यथा वे भी पुरुषार्थ नहीं कही जा सकेंगी, मात्र गतिविधियाँ या लालसाएँ होकर रह जाएंगी। इस प्रकार धर्ममय काम, धर्ममय अर्थ एवं धर्ममय धर्म पुरुषार्थों में परस्पर स्तर-भेद-निरूपण सम्भव नहीं है। अर्थ-भुवनों की विपुलता या अल्पता के आधार पर अवश्य उनमें तर-तम-निरूपण सम्भव है।

विज्ञान (साइंसिज़) पर ऊपर चर्चा हो चुकी है। वह काम पुरुषार्थ की ही प्रधानता वाला क्षेत्र है। शास्त्रों का बहुलांश काम, अर्थ एवं धर्म पुरुषार्थों का ही प्रतिपादक है। उनमें त्रिवर्ग की ही मीमांसा प्रमुख है। उपनिषद् तथा अन्य साधना-ग्रन्थ या परा-विद्या-ग्रन्थ अवश्य मोक्ष-पुरुषार्थ या आत्मविद्या के प्रतिपादक हैं। उनकी सर्वोपरिता स्पष्ट है। जहाँ तक दर्शनशास्त्रों की बात है, उनका भी बहुलांश तर्कबुद्धि एवं मननशक्ति को तीक्ष्ण, सूक्ष्म, पुष्ट एवं विशद बनाने वाला ही है। **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** की तार्किक-बौद्धिक सामर्थ्य देने वाला। स्वयं सत्ताविषयक अन्वीक्षा तो बहुत थोड़े से दर्शन-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य है। उन थोड़े से विशिष्ट ग्रन्थों को दर्शन-विषय-मात्र का सामान्य प्रतिनिधि बताना तो एक जातिवाद या वर्णवाद हो जाएगा। आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या अथवा **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** किंवा **चिद्विमर्श** दर्शनग्रन्थ उतने ही विरल हैं जितने विरल काव्यग्रन्थ **उत्तररामचरितम्, रघुवंशम्, रामचरितमानस, कबीर-बीजक, कामायनी** तथा निराला की **तुलसीदास** एवं **राम की शक्तिपूजा** आदि हैं (**रामायण** एवं **महाभारत** इस कोटि में गणनीय नहीं हैं)।

यहाँ एक बात और। जीवन के साध्य का विचार अलग बात है, जीवन के परम साध्य का विचार अलग। मोक्ष, आत्मज्ञान, स्वरूपदर्शन, निर्वाण, आत्मदर्शन, आत्मबोध, ब्रह्म-बोध आदि के प्रतिपादिक-उपदेशक दर्शन भी इन्हें जीवन का परम साध्य या सत्ता का मौलिक स्वरूप अथवा परम सत्य ही बताते हैं। जीवन के साध्य तो विविध हैं, यह ये सब दर्शन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी जानते और दिखाते ही हैं, परन्तु परम साध्य को जाने बिना ये विविध साध्य आवेश, आकांक्षा और अविवेक के रूप में बन्धनकारक या मलिनताकारक या विकलताकारक बन जाते हैं, यही इन दर्शनों का प्रतिपादन है। परम साध्य मनुष्य मात्र का एकमात्र साध्य नहीं है, सर्वोच्च साध्य है। अन्य सभी साध्यों की सार्थकता एवं सम्पन्नता सर्वोच्च साध्य से ही है। सर्वोच्च या परम साध्य इन सभी साध्यों की परम सम्पन्नता, परिसमाप्ति एवं परम स्रोत तथा सर्वोच्च शिखर है।

साँख्य, वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शनों ने जिसे जीवन का परम साध्य दिखाया है वह संस्कृति से परे की स्थिति है। अतः वे परम साध्य सिद्ध होने की दशा में संस्कृति के अन्तर्गत नहीं आते। वे संस्कृति का अतिक्रमण करते हैं। अतः वे न संस्कृति के विषयभूत अंग हैं, न साहित्य के। परन्तु परम साध्य की साधना संस्कृति का अंग है और उस साधना का वर्णन, चित्रण, प्रस्तुति साहित्य का अंग है तथा होती रही हैं। दर्शन का भी। इस प्रकार साहित्य एवं दर्शन परम पुरुषार्थ की साधना के प्रतिपादक तथा संकेतक ही हो सकते हैं, सिद्धि तो साधक स्वयं अर्जित करता है। इसीलिए साहित्य एवं दर्शन में परस्पर स्तर-भेद निर्धारण सम्भव नहीं है। उनमें से प्रत्येक अपना अपना स्वधर्म कितने सक्षम, दक्ष, कुशल एवं श्रेष्ठ ढंग से निभा रहे हैं, यही विचार किया जा सकता है। कबीर और पतंजलि में या वाल्मीकि और शंकराचार्य में से एक का स्तर दूसरे से कम या अधिक नहीं बताया जा सकता, न ही इनकी महत्ता को एक-दूसरे से कम-ज़्यादा कहा जा सकता है, न उत्कृष्टता या उपलब्धि को।

जहाँ तक साहित्य के बहुलांश की प्रणयमूलकता या रागमूलकता की बात है, उसी प्रकार शास्त्रों के बहुलांश की सामाजिक अनुशासनमूलकता तथा दर्शन-ग्रन्थों के बहुलांश की ऊहापोहमूलकता, तर्कमूलकता तथा विचारबद्धता भी प्रकट है और वे सब भी परम पुरुषार्थ में उतने ही बाधक हैं जितना प्रणय एवं रति। शंकराचार्य की प्रसिद्ध उक्ति है—

वाग्वैखरी शब्दझटी शास्त्र-व्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये।

विश्व के दर्शनों का बहुलांश काम पुरुषार्थ का ही अंग है, क्योंकि वे दर्शन दृश्य को आत्मेतर देखते हैं। दृश्य का यह द्वितीयत्व ही मिथ्या है। दृश्य का आत्मेतरत्व, ब्रह्मेतरत्व मिथ्या है। दृश्य को परम सत्ता (ब्रह्म) से नितान्त इतर अनुभव करने की अनुभूति मिथ्या है (सदसद् का मिथुन है)। क्योंकि न दृश्य मिथ्या है, न द्रष्टा मिथ्या है, दोनों ही एक ही अद्वितीय सत् हैं। 'नेह नानास्ति किंचन।' (जिसका स्वर्गीय श्री राहुल सांकृत्यायन ने बहुत मज़ाक उड़ाया है, बिना यह देख पाए कि वे ऐसा करते हुए स्वयं कितने उपहास के पात्र बन रहे हैं।) दृश्य के अपने दर्शन के मिथ्या सिद्ध होते ही द्रष्टा भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है। क्योंकि मिथ्या को मिथ्या ही सद्रूप दिखेगा। सत् (द्रष्टा) के समक्ष मिथ्या का सद्रूप-भासक भ्रान्त अस्तित्व भासित होना असम्भव है। उसका सत्य (यथार्थ) स्वरूप ही वह देखेगा। जो जहाँ तक दृश्य को नितान्त आत्मेतर, ब्रह्मेतर रूप में देख रहा है वह (द्रष्टा) वहाँ तक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्वयं आत्मेतर है, ब्रह्मेतर है। वहाँ तक वह 'सः' नहीं है, यानी 'सोऽयं ब्रह्म' नहीं है, आत्मा नहीं है, परम सत् नहीं है, सच्चिदानन्द नहीं है, अपितु वह मायिक आवरण से आवृत द्रष्टा है। दृश्य को सर्वथा आत्मेतर देखना स्वयं में अनात्मलिप्तता है, रागलिप्तता है, मोहलिप्तता है, उपाधिलिप्तता है। यही आसक्तिमूलक काम है। अतः ऐसे समस्त दर्शन भी, जो दृश्य को आत्मेतर देखते हैं, काममूलक हैं। उन्हें काम पुरुषार्थ का अंग इस अर्थ में कहा जा सकता है कि वे इस काममूलक दृष्टि के साथ वस्तु-तत्त्व सम्बन्धी विमर्श करते हैं, उसे पाने की विधियों एवं क्रियाओं के प्रतिपादन में प्रवृत्त नहीं हो पाते। यह विमर्श धर्ममूलकता है। इसीलिए यह धर्ममय काम पुरुषार्थ है। मार्क्सवाद, तार्किक प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद आदि दार्शनिक चिन्तन इसीलिए काम पुरुषार्थ के अंग हैं। उनकी स्थिति मेघदूत, आँसू तथा अन्य काममूलक श्रेष्ठ साहित्य से ही तुलनीय है। वे आत्मविद्यामूलक दर्शनों की कोटि के ग्रन्थ नहीं हैं। साथ ही वे **रामचरितमानस, कबीर बीजक, रघुवंशम्, उत्तररामचरितम्** जैसे श्रेष्ठ धर्ममय काव्यग्रन्थों से हीन कोटि के दर्शन-ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार साहित्य-ग्रन्थ (काव्यादि) तथा कला-रूप विविध प्रयोजनों वाले होते हैं। विविध स्तरों वाले। प्रयोजन-भेद, स्वरूप-भेद, विमर्श के स्तर-भेद और आन्तरिक समृद्धि-भेद तथा अर्थवैपुल्य-भेद से सजृन-शीलताएँ भिन्न भिन्न प्रकार एवं स्तर की होती हैं। सामान्यतः तो साहित्यिक एवं कलात्मक सृजनशीलताएँ आवेगात्मक चित्त से प्रेरित बौद्धिक विमर्श होती हैं, जैसेकि अनेक तर्कमूलक, भावमूलक एवं विचारबद्ध दर्शन भी होते हैं। उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाएँ (काव्य) एवं कलाकृतियाँ प्रशान्त मनीषी सर्जक का काव्यात्मक एवं कलात्मक विमर्श-परिणाम तथा दर्शित विषयों, अर्थों, भावों एवं वस्तुओं की व्यवस्थित प्रस्तुतियाँ होती हैं। व्यवस्थित प्रस्तुतियाँ सत्य एवं ऋत के बोधपूर्वक ही सम्भव हैं। अद्वितीय महाकाव्य तो धर्म, अर्थ एवं काम त्रिवर्ग पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष-साधना के संकेतक होते हैं। अर्थ एवं काममूलक समृद्धियों का वर्णन करते हुए धर्म-साधना तथा मोक्ष-साधना की अभीप्साएँ जगाने वाले तथा श्रेष्ठ ज्ञान-परम्परा की स्मृति एवं विवेक जगाने वाले **रामायण** एवं **महाभारत** जैसे महाकाव्य वस्तुतः पुरुषार्थचतुष्टय का वैभव एवं ऐश्वर्य प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए धर्माधिष्ठित एवं धर्मनिष्ठ समाज की दृष्टि से **रामायण, महाभारत** एवं **रामचरितमानस** जैसे काव्यग्रन्थ मोक्षशास्त्र या योगदर्शन या वेदान्तसूत्र से अधिक समृद्ध वाङ्मय हैं। मोक्षसाधक के लिए अवश्य मोक्षशास्त्र ही एकमात्र ध्येय, अध्येय एवं साध्य है। इस प्रकार अधिकार-भेद एवं पात्रता-भेद तथा प्रयोजन-भेद से साहित्य या दर्शन का महत्त्व-भेद है।

इसका यह अर्थ कथमपि नहीं कि वाल्मीकि, व्यास एवं शंकराचार्य परस्पर तर-तम भाव से तुलनीय हैं। ऐसी तुलना असम्भव है एवं अज्ञानाश्रित चेष्टा होगी। प्रत्येक की महत्ता स्वप्रतिष्ठ यानी सत्प्रतिष्ठ है।

जहाँ तक मोक्ष-सिद्ध विभूतियों की बात है, वे अपने लिए किस प्रकार का कार्य चुनते हैं, दर्शन-प्रतिपादन, काव्य-सृजन, उपदेश या अन्य किसी कार्य को अपनाते हैं, यह स्वयं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उनके विवेकज संकल्प पर निर्भर है। वे ऐसा या तो करुणापूर्वक, अनुग्रहपूर्वक करेंगे या लोकसंग्रह के भाव से। वे क्या करेंगे, यह वस्तुतः उनके अवतरण के प्रयोजन पर निर्भर है। वाल्मीकि और व्यास महाकाव्य रचते हैं, कपिल साँख्यसूत्र और पतंजलि योगसूत्र रचते हैं। पाणिनि व्याकरण तथा जैमिनि धर्म-दर्शन (मीमांसा)। भगवान बुद्ध एवं भगवान महावीर उपदेश द्वारा एवं संघ (भिक्षु-श्रमण) द्वारा धर्म-चक्र प्रवर्तन करते हैं और शंकराचार्य तथा स्वामी रामानन्द धर्म-संगठन एवं दर्शन-प्रतिपादन द्वारा। महाराज जनक राज्य-संचालन एवं ज्ञानात्मक विमर्श की व्यवस्था द्वारा यही काम करते हैं। महाराज मनु धर्मशास्त्र के प्रणयन द्वारा। धन्वन्तरि और चरक आयुर्वेद के प्रवर्तन द्वारा। चैतन्य महाप्रभु प्रभुनाम-संकीर्तन द्वारा। विरुवल्लुवर, आलवार संत-गण, संत ज्ञानेश्वर, नायन्मार संत-गण, बसवेश्वर, कबीर, रविदास, तुकाराम और तुलसीदास काव्य के माध्यम से धर्म-चक्र गतिवान रखते हैं और गुरु नानक पंथ-प्रवर्तन तथा धर्म-विमर्श के द्वारा यही काम करते हैं। समर्थ स्वामी रामदास तपस्या एवं राजनैतिक मार्गदर्शन द्वारा यही कार्य सम्पन्न करते हैं तथा श्री रामकृष्ण परमहंस श्रेष्ठ आध्यात्मिक जीवन जीते हुए तत्त्वज्ञानोपदेश देकर। इनमें से प्रत्येक का कर्म आप्तपुरुष का कर्तृत्व है अतः दिव्य कर्म है। उन दिव्य कर्मों में परस्पर तर-तम भाव निर्धारण असम्भव है। अतः साहित्य एवं दर्शन में एक को काम पुरुषार्थ प्रधान तथा दूसरे को मोक्ष पुरुषार्थ प्रधान कहना या समझना असम्यक् है। स्वयं साहित्य के भीतर हम काम-पुरुषार्थमूलकता तथा धर्ममूलकता और मोक्ष पुरुषार्थमूलकता जैसे स्तर-भेद अवश्य पाते हैं जैसे कि स्वयं दर्शन के भीतर भी।

संस्कृति से आशय यदि व्यापक अर्थों वाले 'धर्म' से है तो संस्कृति में धर्म के विविध रूपों का समुच्चय मानना चाहिए। वे सभी धर्म-वैविध्य रूप एक ही विशिष्ट धर्म-बुद्धि से संचालित, प्रेरित तथा प्रकाशित होने पर एक ही विशेष संस्कृति के विविध पक्ष या अवयव कहे जाएंगे। साहित्य उस स्थिति में संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट धर्म-रूप अवयव है। वह साहित्य अपनी संस्कृति के अवयवभूत विशिष्ट साहित्य-धर्म की साधना, पालन, संरक्षण, अभिवर्धन एवं अभिव्यक्ति कर रहा होगा। परन्तु यदि संस्कृति का अर्थ समाज की रुचियाँ, अभिवृत्तियाँ एवं रहन-सहन की विधियं तथा मान्यताएँ ही मानें तो श्रेष्ठ साहित्य का उस संस्कृति के विषय में धर्मविवेक जागृत करने वाले सर्जनात्मक उन्मेषों के रूप में ही सामने आएगा। ऐसी स्थिति में वह सर्जनात्मक रीति से संस्कृति की अनेक ऐसी मान्यताओं के प्रति संशय, जिज्ञासा तथा प्रतिरोध और विरोध भी व्यक्त करेगा जो मान्यताएँ संस्कृति के धर्ममूलक अर्थ के विरुद्ध हों, यानी जो मान्यताएँ एवं व्यवस्थाएँ तथा क्रियाएँ संस्कृति के नाम पर विकृतिमूलक या विधर्ममूलक अथवा अधर्मपरक हों, उनका सृजनात्मक रूपों में तीव्र विरोध साहित्य धर्म का अंग है। तुलसी, कबीर, ज्ञानेश्वर और नानक ने तथा जयशंकर प्रसाद और निराला प्रभृति ने यही किया है।

मानद आचार्य, दर्शन तथा गाँधी विचार,
बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अध्यास : एक टिप्पणी

'उन्मीलन' जनवरी 1999 के अंक में शल्य जी ने अपने 'अध्यास' शीर्षक लघु लेख में आचार्य शंकर के अध्यास सम्बन्धी विवेचन पर कुछ आपत्तियाँ प्रकट की हैं। साथ ही उन्होंने 'अध्यास' का उन्हें सही लगने वाला स्वरूप विशद करने का प्रयास किया है। इस टिप्पणी में शल्य जी की आपत्तियों का निराकरण करते हुए यह स्पष्ट किया जायेगा कि शंकर कृत अध्यास-विवेचन में शल्य जी का अपना अध्यास विषयक स्पष्टीकरण गतार्थ हो जाता है।

शल्य जी की पहली महत्त्वपूर्ण आपत्ति यह है कि 'आत्मा अस्मत् प्रत्यय गोचर नहीं हो सकता क्योंकि अस्मत्व विषय-धर्म होने से स्वयं आत्मा पर भ्रान्त आरोप है और इस प्रकार वह आध्यासिक है जब कि 'युष्मदस्मत्प्रत्यय-गोचर योः विषय-विषयिणोः तमः प्रकाशवत् विरुद्ध स्वभावयो...' इस शांकर भाष्य की पहली ही पंक्ति से ऐसा सूचित होता है कि अस्मत्-प्रत्ययगोचर आत्मा परम सत्य है और युष्मत्प्रत्ययगोचर विश्व अंधकार के समान अवस्तु सत् है। इस आपत्ति पर यह प्रतिवाद सम्भव है कि अस्मत् और युष्मत् प्रत्यय-विषयों के बीच मूलगामी भेद नहीं होने पर भी विषयी और विषय के रूप में इनमें भेद अवश्य है जिसके कारण इनमें एक पर दूसरे का अध्यास नहीं हो सकता। किन्तु आगे चलकर शंकर स्वयं कहते हैं कि अध्यास 'सत्य और असत्य के मिथुनीकरण से' घटित होता है जिससे यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि अस्मत् के रूप में शंकर को परम सत्य ही विवक्षित है। इसी बात को भामतीकार निम्न परिच्छेद में विस्तार के साथ प्रतिपादित करते हैं। परिच्छेद के महत्त्वपूर्ण वाक्य इस प्रकार हैं—

'इदमत्र आकूतम्। भवेदेतदेवं यद्यहमित्यनुभवे आत्मतत्त्वं प्रकाशेत। न त्वेतदस्ति। तथाहि समस्तोपाध्यनवच्छिन्नानन्तानन्द चैतन्यैकरसं उदासीनं एकं अद्वितीयं आत्मतत्त्वं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु गीयते अहमनुभवस्तु प्रादेशिक अनेकविध शोक दुःखादिप्रपंचोपप्लुतं आत्मतत्त्वं अदर्शयन् कथं आत्मतत्त्वगोचरः कथं वा अनुपप्लवः?'

इन वाक्यों में यह प्रतिवाद किया गया है कि अस्मत् युष्मत् के बीच अध्यास सम्भव ही नहीं है क्योंकि 'अहं भाव' का विषय शुद्ध आनन्दमय आत्मा नहीं हो सकता, प्रादेशिक शोक मोहादि भावों से अभिभूत आत्मा ही अहं भाव का प्रत्यय होता है। अतः शुद्ध आत्मा और देहेन्द्रियादि विषय (तथा उपाधियों से अवच्छिन्न आत्मा भी) एक-दूसरे से अत्यंत भिन्न होने के कारण इनके बीच परस्परारोप या अध्यास की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। शल्य जी द्वारा उठाया गया अध्यास सम्बन्धी आक्षेप भी यही है। इस आक्षेप का समाधान आगे चलकर भामतीकार भाष्य की पंक्तियों के आधार पर इस प्रकार करते हैं—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

 Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'अयमर्थः सत्यं प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाशत्वादविषयोऽनंशश्च; तथाप्यनिर्वाच्यानाद्याविद्या परिकल्पित बुद्धि-मनः सूक्ष्म-स्थूल शरीरेन्द्रियावच्छेदेन अनवच्छिन्नोऽपि वस्तुतोऽवच्छिन्न इव, अभिन्नोऽपि भिन्न इव, अकर्त्ताऽपि कर्त्तेव, अभोक्ताऽपि भोक्तेव, अविषयोपि अस्मत्प्रत्ययविषय इव जीव भावमापन्नोऽवभासते, नभ इव घटमणिकमल्लिकाद्यवच्छेद भेदेन भिन्नमिव अनेक विधधर्मकमिवेति। नहि चिदेकरसस्य आत्मनः चिदंशे गृहीते अगृहीतं किंचिदस्ति। न खलु आनन्द नित्यत्वविभुत्वादयोऽस्य। चिद्रूपाद्वस्तुतो भिद्यते येन तुदेह न गृह्येरन्। गृहीता एव तु कल्पितेन भेदेन न विवेचिता इत्यगृहीता इव आभासन्ति। तस्माच्चिदात्मनः स्वयंप्रकाशस्यैव अनवच्छिन्नस्य अवच्छिन्नेभ्यो बुद्ध्यादिभ्यो भेदाग्रहात् तदध्यासेन जीवभाव इति।... तथाहि कर्त्ता भोक्ता चिदात्मा अहं प्रत्यये प्रत्यवभासते। न च उदासीनस्य तस्य क्रियाशक्ति भोगशक्तिर्वा संभवति। यस्य च बुद्ध्यादेः करणसंघातस्य क्रियाभोगशक्तिः न तस्य चैतन्यम्। तस्मात् चिदात्मैव कार्य-कारणसंघातेन ग्रथितो लब्धक्रियाभोगशक्तिः, स्वयंप्रकाशोऽपि बुद्ध्यादिविषय विच्छुरणात् कथंचिदस्मत्प्रत्ययविषयोऽहंकारस्पदं जीव इति च जन्तुरिति च क्षेत्रज्ञ इति च आख्यायते। न खलु जीवः चिदात्मनो भिद्यते। तस्मात् चिदात्मनोऽव्यतिरेकात् जीवः स्वयंप्रकाशोऽपि अहंप्रत्ययेन कर्त्तृभोक्तृतया व्यवहारयोग्यः क्रियते इति अहंप्रत्ययालंबनं उच्यते।'

इस प्रदीर्घ परिच्छेद में भामतीकार कहते हैं कि यद्यपि वास्तव में प्रत्यगात्मा या शुद्ध आत्मा अनन्तानन्द चैतन्यरूप होने के कारण विषयी अथवा विषय नहीं हो सकता अतएव वह अस्मत्प्रत्ययगोचर भी नहीं माना जा सकता, तथापि शरीरादि उपाधियों से अवच्छिन्न होने पर वह अस्मत्प्रत्ययावच्छिन्न हो जाता है। इसी कारण जीवात्मा कर्त्ता तथा भोक्ता भी कहलाता है। तात्पर्य यह है कि 'अस्मत्' शब्द का शुद्ध आत्मा के लिए प्रयोग भी आध्यासिक है। युष्मत् प्रत्यय-विषय शरीरेन्द्रियादि का तथा इनके धर्मों का शुद्ध आत्मा पर आरोप भी आध्यासिक ही है। यही नहीं, भिन्न भिन्न प्रतीत होने वाले पदार्थों का पारस्परिक भेद भी आध्यासिक है। साक्षात् परम्परया सभी व्यावहारिक प्रत्यय भेदाधिष्ठित होने के कारण आध्यासिक होते हैं। वास्तव में न कोई विषय है न कोई विषयी।

अध्यास के सम्बन्ध में शल्य जी ने अपना मत प्रस्तुत किया है वह अंशतः सही है। अध्यास और भ्रन्ति वस्तुविपर्यास के रूप में एक समान होते हुए भी एक बात में एक-दूसरे से भिन्न भी हैं। भ्रान्ति में भ्रान्त व्यक्ति भ्रामक धर्म तथा उसके सत्य धर्मी से बिल्कुल भिन्न होता है। वह इनका केवल द्रष्टा होता है। लेकिन अध्यास में स्वयं द्रष्टा या ज्ञाता ही अध्यास विषय बन जाता है। 'यह मेरा शरीर है' यह अनुभव आध्यासिक है, इसे भ्रन्ति कहना स्थूल रूप से ही सही है। शरीर में उलझ कर ही शरीरी व्यक्ति शरीर को 'अपना' या ममत्वयुक्त अनुभव करता है। अध्यास की एक और विशेषता यह है कि इसकी असलियत ज्ञात होने पर भी इससे मुक्ति नहीं मिलती। शरीर को 'मेरा' कहने में ही शरीर की मुझसे भिन्नता स्पष्ट हो जाती है फिर भी शरीरात्म भाव को भुला देना सम्भव नहीं होता। शल्य जी अध्यास को ज्ञानवृत्तिमूलक नहीं मानते। यह ठीक नहीं है। शरीरात्मभाव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से छुटकारा पाने के लिए शरीर को अपने से भिन्न समझने का अभ्यास करना आवश्यक है। निदिध्यासनरूप ज्ञान या चिन्तन की सहायता से ही शरीर में उलझी हुई अपनी अतिक्रामी सत्ता को आत्मा उससे अलग कर सकता है। यह अलगाने की तथाकथित क्रिया ज्ञान से अन्य नहीं है क्योंकि शरीरात्म् भाव एक अध्यास मात्र है जिसका पूर्ण निरास ज्ञान से ही सम्भव है।

वैसे देखा जाय तो भ्रान्ति में भी परम्परया आत्मा का ही सत्तामूलक अध्यास हुआ करता है ऐसा माना जा सकता है। जब कोई द्रष्टा शुक्ति को भ्रमवश रजत समझता है तब वह अपनी चेतना के द्वारा अपनी सत्ता को ही शुक्ति में अज्ञान रूप से उलझा कर उसका रजत के रूप में आकलन करता है। इस उलझाव या व्यतिकर के कारण ही जब तक भ्रमनिरास नहीं होता तब तक भ्रान्त द्रष्टा अपने रजतानुभव को साग्रह पकड़े रहता है। दार्शनिकों की अपने सिद्धान्तों के प्रति (उनके सामान्यानुभव के विरुद्ध होने पर भी) आत्यंतिक निष्ठा उक्त व्यतिकर का ही संसूचन करती है। आनुभविक ज्ञान की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए साँख्य, वेदान्त जैसे दर्शनों ने आत्मा के अहंकार को इस प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण घटक कहा है। जब तक विषय से प्राप्त हुई संवेदना को आत्मा आत्मसात् नहीं कर लेता या अपना नहीं लेता (जिस बात की अभिव्यक्ति विधि-निषेधात्मक क्रिया पद के द्वारा वाक्य में की जाती है) तब तक इस संवेदना को पूर्ण ज्ञान का स्वरूप प्राप्त नहीं होता। इस स्पष्टीकरण के अनुसार सभी भ्रान्तियाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आत्माधारित या आत्मविशेष्यक मानी जा सकती हैं। इस विचार को मन में रखकर शंकर ने सभी प्रकार की भ्रान्तियों तथा भ्रान्तिमूलक व्यवहार को 'अहमिदं, ममेदं इति लोक-व्यवहारः' इस कथन में, जो दो विधाओं में आत्माधारित है, बाँट दिया है। अतः सभी भ्रान्तियाँ आत्मसत्ता के ही अज्ञान का परिणाम मानी जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में शल्य जी का मंतव्य शंकर के मंतव्य के साथ अनायास समन्वित किया जा सकता है। आत्म-सत्ता को अनात्म रूप शरीरेन्द्रियादि तथा अन्य तत्सम्बन्धी विषयों से अलगाकर उनकी सत्ता का अतिक्रमण करने के लिए अनात्म विषयक यथार्थ ज्ञान या तत्त्व ज्ञान होना नितांत आवश्यक है। यदि अध्यास और भ्रान्ति को एक-दूसरे से भिन्न मानें तो शल्य जी का कथन सही होगा लेकिन इन दोनों को एक ही प्रकार का माना जाये तो भ्रान्तियों को अज्ञानमूलक ही समझना होगा। शंकर के कथन पर बिल्कुल तर्कसंगत आक्षेप उपस्थित करने के लिए शल्य जी अभिनंदन के पात्र हैं।

नारायण शास्त्री द्राविड़,
प्रोफेसर कॉलोनी, हनुमान नगर, नागपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'फाउस्ट' के अनुयायियों को एक नये बीजक का नचिकेता-आह्वान*

किसी संस्कृति की पहचान—उसकी ऐतिहासिक रूप से चरितार्थ प्रवृत्तियों की परख भी—उसकी लोक-चेतना में बसे हुए और उसके सृजनात्मक साहित्य को भी अनुप्राणित करने वाले प्रतीकों, मिथकों के सहारे की जा सकती है। मनुष्य की सर्वशक्तिमान् बनने की आकांक्षा का और उस आकांक्षा को चरितार्थ करने के साधन के रूप में ज्ञान की पिपासा का फाउस्ट के जैसा ज़बरदस्त प्रतीक और भला कहाँ मिलेगा! तभी तो योरोपीय लोकमानस में बहुत गहरे भिदे हुए इस अभिप्राय को क्रिस्टोफर मार्लो और ग्योएटे जैसी दिग्गज प्रतिभाओं ने अपनी महानतम कृतियों की विषय-वस्तु बना कर अमर कर दिया। फाउस्ट की पिपासा उस ज्ञान की है जो उसे इसी देह में अजर-अमर बना दे, सृष्टि की समस्त विभूतियों को अपने काबू में करके उन्हें आर-पार जान लेने और भोगने की असीम सामर्थ्य प्रदान करे। उसकी ज्ञान-दृष्टि नश्वरता के अस्वीकार और मानवीय सीमाओं के अहम्मन्य उल्लंघन से परिचालित है। शैतान मानो उसी के भीतर की इस पुकार के उत्तर में उसके सामने प्रकट होता है और उसकी हर लालसा पूरी करने का आश्वासन देता है—इस शर्त पर कि फाउस्ट अपनी आत्मा उसके पास गिरवी रख दे। फाउस्ट ऐसी प्रभुता देने वाले ज्ञान का लोभ संवरण नहीं कर पाता और इस तरह अपने ही चुने हुए जाल में फँस जाता है। मनोवांछित लोकों की प्रभुता और भोग वह हासिल तो कर लेता है अवश्य, किन्तु अपनी आत्मा की कीमत पर। निरवधि अन्तहीन नरकवास की नियति कमाकर। मार्लो के नाटक में इस चरित्र को पल-प्रतिपल अपनी इस अवश्यम्भावी और अटल नियति की ओर सरकते देखने का अनुभव दर्शक-पाठक के रोंगटे खड़े कर देता है। ग्योएटे का 'परम पिता' चूँकि इतना निष्ठुर नहीं है, इसलिए वह दण्ड-वृत्ति के साथ थोड़ी विनोद-वृत्ति का भी सन्तुलन बनाए रखता है, और ऐसे दुस्साहसी नायक के लिए भी निरवधि निर्वासन की नियति से उलट आने की थोड़ी गुंजाइश रख देता है।

डॉ॰ सोमराज गुप्त द्वारा प्रस्तुत उपनिषदों (बल्कि प्रस्थानत्रयी) के शांकर भाष्य की सुविस्तृत टीका 'फाउस्ट' के अनुयायियों (जो इस बीच यत्र-तत्र-सर्वत्र छा गए हैं) को ध्यान

---

* समीक्षित पुस्तक विज़्डम ऑव शंकर : द वर्ड स्पीक्स टु दि फाउस्टियन मैन, भाग 1-2, ले. सोमराज गुप्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण दिल्ली 1991, मूल्य अंकित नहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में रखते हुए—उन से संवाद स्थापित करने की अन्तर्विवशता में रची गई है। नामकरण भी ग्रन्थ (ग्रन्थमाला) का इसी उद्देश्य और इसी आवश्यकता को झलकाता है। दि वर्ड **स्पीक्स टु दि फाउस्टियन मैन**, अर्थात् 'फाउस्ट' के अनुयायियों को 'सबद' का सम्बोधन। 'सबद' से यहाँ क्या तात्पर्य है? वेद? उपनिषद्? शांकर-भाष्य? जैसा कि मुण्डकोपनिषद् के शांकर भाष्य की विवेचना के प्रसंग में लेखक ने खुलासा किया है, शंकर वेद के पाठों तथा नित्य सत्ता के 'ज्ञान' के बीच एक स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचते हैं। वेदाध्ययन में निष्णात पंडित के लिए भी वेद का रहस्य, यानी उसका पारमार्थिक सत्य अप्रकट ही रहा आता है। श्रुति उस पर अपना मर्म प्रकाशित करे, इसकी पूर्व शर्त ही यह है कि ऐसा जिज्ञासु सारी लौकिक कामनाओं को त्याग कर गुरु-रूपी साक्षात् सत्य के समक्ष हाथ में समिधा लेकर प्रस्तुत हो। यानी, अपनी सारी ऐहिक लालसाओं—अपनी जिजीविषा तक—को भस्मीभूत कर डालने को तैयार हो। तभी औपनिषद 'शब्द' उस पर श्रुति की तरह प्रकट होंगे, उसके पूर्व नहीं। ऐसी सर्वस्व होम कर देने वाली आत्मा के लिए तब वह सबद ही तत्त्व, यानी पारमार्थिक सत्ता का अनुभव, बन जायगा। अर्थात्, उपनिषद् 'पारमार्थिक ज्ञान' को धारण करते हैं या नहीं, यह उनका स्वाध्याय करने वाले की पात्रता या अपात्रता पर निर्भर करता है। पण्डित के लिए उपनिषद् के शब्द मात्र अर्थ-सूचक संकेत होंगे, किन्तु सच्चे द्रष्टा के लिए वे सत्य स्वरूप ही होंगे।

स्पष्ट ही यह ज्ञान या ज्ञान-मार्ग फाउस्ट-पथ के पथिकों को रास आने वाला नहीं है, किन्तु क्या वह उनके लिए प्रासंगिक भी नहीं है? 'चलत कुपंथ वेद-मग छाँड़े'—तुलसीदास ने ही न कहा है—अपने समकालीनों के लिए? हर देश और हर काल में बहुमत तो कुपथ, या कि आसान रास्ता, अपनाने वालों का ही होता है। फिर भी उन्हें सही रास्ते का पता देने वाले सन्त मनीषी भी इक्के-दुक्के प्रकट होते ही रहते हैं और 'एष धर्मो सनातनः' का प्रत्यक्ष वस्तु-पाठ भी सुलभ कराते रहते हैं। 'वेद-मग' भी लोक की या कर्म की उपेक्षा करने वाला मार्ग तो नहीं है। दुःखवाद और आनन्दवाद, दोनों के बीज कहीं उसी में होंगे : यों उसे आनन्दवाद के रूप में समझने और समझाने की प्रवृत्ति भी प्रबल रही है। ऋग्वेद को पार्थिव ज्ञान, (भूः) का, यजुर्वेद को अन्तरिक्ष-ज्ञान (भुवः) का और सामवेद को द्यु-ज्ञान (स्वः) का भण्डार माना गया है और इस तरह देखने पर ये न केवल तीन अलग-अलग प्रकारों के ज्ञान से जुड़ते हैं बल्कि प्रत्येक में तीनों प्रकारों के ज्ञान समवेत देखे जा सकते हैं। तथापित शंकराचार्य स्वयं जिस भूमि पर खड़े होकर इनके बारे में चर्चा करते हैं वहाँ से देखने पर ये तीनों विद्याएँ अपरा विद्या—यानी निम्नतर ज्ञान की ही कोटि में आती हैं। इसी तरह इन तीनों वेदों को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के ज्ञान से भी जोड़ा जाता है। जहाँ तक अथर्ववेद का सवाल है—अग्नि के ज्ञान से विशेषतः सम्बद्ध अथर्ववेद का—वह भी निम्नतर ज्ञान की श्रेणी में ही आता है। कर्मकाण्डी के लिए वह यज्ञाग्नि है—त्राणकर्त्ता और आराध्य, 'इनोसेंट-पार्टिसिपेटरी सोल' के लिए वह वैश्वानर अग्नि है जो मनुष्य मात्र में विद्यमान है : आत्मा का 'विराज' रूप। अहंभाव को त्याग चुके मनुष्य के लिए अग्नि **हिरण्यगर्भ** है और प्राण से सम्पूर्ण तादात्म्य साध चुके साधक के लिए अग्नि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ईश्वर है। किन्तु ये सभी ज्ञान-स्थितियाँ टिकाऊ नहीं हैं। इनसे मृत्यु को नहीं जीता जा सकता। 'रियल फायर नॉलेज' तो उसी के हिस्से आती है जिसने प्राण की गति को निरुद्ध कर लिया है, यानी जो अपने दैहिक अस्तित्व के लिए पूरी तरह मर चुका है। ऐसा निःशेष सायुज्य ही पारमार्थिक ज्ञान है। (पृष्ठ 17, भाग 2)

यह तो हुई उपनिषद् की प्रतीक भाषा की शंकर कृत व्याख्या जो समकालीन मनुष्य के लिए सहज बोधगम्य नहीं भी हो सकती। अच्छा होगा यदि हम प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता द्वारा प्रयुक्त आधुनिक अस्तित्ववादी या विट्गेंस्टाइनी भाषा में इस औपनिषद 'ज्ञान' के मर्म के निकट पहुँचने की चेष्टा का उदाहरण देखें। कठोपनिषद् के शांकर भाष्य के विवेचन के प्रसंग में लेखक एक जगह कहता है:

"...सच्चा शिष्य हाइडेग्गरी 'थिंकर' की तरह होता है। समिधा हाथ में लेकर जाने का अभिप्राय यह है कि वह अपने मानवीय और भाषाबद्ध 'स्व' को मिटाने के लिए प्रस्तुत है। विशुद्ध श्रोता की भूमिका में है वह, और 'गुरु' उसके लिए मात्र एक मनुष्य-देहधारी जीव नहीं बल्कि वह विभूति है जो सत्-स्वरूप हो चुका है। शिष्य इस सत् (बींग) के सम्मुख प्रणत होता है और तब 'बींग' उससे बात करता है—शब्दों के माध्यम से स्वयं को प्रकट करता है और सत्ता में स्वयं को निःशेष विसर्जित करने का इंगित करता है। दूसरे शब्दों में, उसके भीतर जो विचारक है, भाषा का प्रयोक्ता है, उसे मर जाना चाहिए, तभी वह सत्ता (बींग) में प्रतिष्ठित होने का अधिकारी बन पायेगा। गुरु ने भी कभी इसी तरह 'सबद' को सुना होगा और शब्दातीत 'सत्ता' बनने के लिए उसमें अपने लौकिक अस्तित्व को विसर्जित किया होगा। अब वह स्वयं को शब्द के रूप में प्रकट कर रहा है—अपने शिष्य को (उसके लौकिक अहं को) भी उसी तरह मार कर सनातन जीवन में प्रतिष्ठित करने को। यही सत्य-साक्षात्कार का मार्ग है, तथाकथित विचार-चिन्तन नहीं : चाहे वह 'रैशनल थिंकिंग' हो, चाहे हाइडेग्गरी चिंतन (श्रवण); चाहे शास्त्रों का अवगाहन हो, चाहे नित्य कर्म। यह इसलिए कि शास्त्रवेत्ता 'स्पीकर' ही (वक्ता) होता है, श्रोता नहीं। वह शब्दों से उलझता है, उनकी व्याख्या करता है; वह इतना मौन कभी हो ही नहीं सकता कि 'सत्ता' को अपने भीतर गूँजते सुन सके। और वह कभी भी अपनी पृथक् सत्ता को पारमार्थिक सत्ता में विलीन कर ही नहीं सकता। ठीक इसी तरह धार्मिक कृत्यों को सम्पादित करता हुआ व्यक्ति भी कर्मसंगी ही होता है। वह इतना निःस्व, इतना 'पैसिव' कभी हो ही नहीं सकता कि 'रिएलिटी' उसे विस्थापित कर सके।"

पाठक गौर करेंगे कि लेखक का प्रयोजन उपनिषदों की शंकर कृत व्याख्या को आधुनिक मनुष्य के लिए—आधुनिक चेतना के बीचोंबीच—स्थापित करना है और इसीलिए वह उस चेतना को मुख्यतः निर्धारित करने वाली विश्व-दृष्टि—यानी फाउस्टियन ज्ञान-दृष्टि को सीधी टक्कर देना चाहता है : ऐसी टक्कर जो सत्य-मार्ग से उसके विचलन को यथातथ झलका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सके और इस तरह उसे विस्थापित करके सही दिशा में मोड़ भी सके। ज़ाहिर है कि उसका यह अभीष्ट तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक वह समसामयिक ज्ञान-दृष्टि, ज्ञान-मीमांसकात्मक दृष्टिकोणों तथा उस ज्ञान के जो सर्वस्वीकृत और सर्वमान्य से उपकरण हैं, तार्किक और भाषिक उपकरण—उन्हीं का उपयोग करते हुए उन्हीं की शब्दावली के बीचोंबीच अपनी अभीष्ट और अनुभव-जन्य दृष्टि को—जो उसके लिए वैदान्तिक दृष्टि ही है—शांकर भाष्य द्वारा अनुमोदित दृष्टि, उसे उत्तीर्ण न कर सके। इस काम के लिए उसे ज़रूरी जान पड़ा है कि वह स्वयं पश्चिम के श्रेष्ठतम साहित्य में अभिव्यक्त अनुभवों के शब्द-प्रामाण्य की भी मदद ले और पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में भी जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण—ठेठ समकालीन चिन्तन को निर्धारित करने वाले मोड़ आए हैं उनका भी यथासम्भव और यथास्थान विनिशेवन करे। सच पूछा जाय तो यही इस पुस्तक की—इस विषय से सम्बद्ध अन्य पुस्तकों की तुलना में—सर्वाधिक ध्यान खींचने वाली विशेषता है। पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन में हाइडेगर, मार्लो पोन्ती, देरिदा, विट्गेंस्टाइन कुछ ऐसे नाम हैं जिन्हें पश्चिम के वैचारिक गतिरोध को दूर करने वाले अग्रगामी चिन्तन के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस पुस्तक में यत्र-तत्र उनके विचारों का उल्लेख और उपयोग ही नहीं, उनकी सीमाओं का भी निदर्शन बड़ी आत्मविश्वास पूर्ण अधिकारी मुद्रा में किया गया है। ऊपर दिया गया उद्धरण ही, मसलन, इस लेखक के प्रतिपादन के ढंग को दर्शाने के लिए पर्याप्त है। पर नहीं, वह पर्याप्त नहीं है : कुछ और बानगियाँ भी ज़रूरी होंगी। और स्वयं उक्त उद्धरण भी अभी कहाँ अपनी बात पूरी कर सका है? वह बात इस तरह पूरी होती है : उसी उद्धरण को आगे बढ़ाएँ तो...

"...अपनी मर्त्य मानवता-नश्वरता के स्वीकार के साथ ही वैदिक मानव उसे वैयक्तिक अमरत्व में रूपान्तरित किये लेता है। वह स्वयं को एक देवता में परिणत कर लेता है जिसे उसके वंशधर सदैव श्रद्धांजलि देते रहेंगे। नचिकेतस् (यानी, वह जो कुछ नहीं जानता—जो जानने के अभिमान से मुक्त है), इस नश्वरता की एक अलग ही कथा को हमारे सामने उद्‌घाटित करता है। यह नश्वर मानव-जीव 'अन्न' की तरह पकता है और अन्न की तरह ही उसका पुनरुद्‌भव भी होता है। यानी, मनुष्य निरन्तर एक साधन ही बना रहता है : मृत्यु भी उसे एक 'अन्त' में परिणत नहीं कर सकती। यानी कि मनुष्य इस तरह कभी भी, किसी भी काल में अपने आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता : कभी भी तत्सत् (बींग) के स्तर को प्राप्त नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यही हुआ कि मनुष्य की जो सबसे बड़ी लालसा हो सकती है, अपना आप होने की, वह कभी भी पूरी नहीं हो सकती। मरणोपरान्त भी नहीं। अन्नवत् होने का और अर्थ ही क्या है, सिवा इसके कि मनुष्य अन्न बनने के लिए ही—यानी, दूसरे शब्दों में इसी बात को कहें तो 'बींग फॉर अदर्स' बनने को ही उत्पन्न हुआ है। नचिकेतस् ('दि इनोसेंट') को मनुष्य की यह नियति स्वीकार्य नहीं। वह इससे विक्षुब्ध और संत्रस्त अनुभव करता है। एक प्रगतिशील ऐतिहासिक प्रक्रिया की कड़ी भर बन जाने की नियति—या, एक सामाजिक व्यवस्था का पुरज़ा भर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बन जाने की नियति। अ-बोध (इनोसेंट) नचिकेता को इसमें कोई तुक नज़र नहीं आता। जहाँ हर सत्त्व ('बींग') दूसरे का खाद्य हो, ऐसा संसार उसे भला क्या सान्त्वना दे सकता है? अन्न रूप मनुष्य का कोई निगूढ़ सत्त्व ('बींग') नहीं हो सकता, वह तो केवल दूसरों के लिए जीता है। और, जहाँ हर नश्वर जीव सिर्फ दूसरों के लिए जीता है वहाँ उसका एकमात्र कार्य महज़ इस निरन्तर मृत्यु और हिंसा के नाटक को जारी रखे रहना ही हो जाता है : मृत्यु के ताण्डव-नृत्य को। वे, जो कई सारे आधुनिक विचारकों की तर्ज़ पर 'बींग' को एक खास संदर्भ में, रिश्तों या तनावों के एक तंत्र में, ही देखने के, या 'एम्बिग्विटीज़' के एक जाल में ही देखने के आदी हो चुके हैं—वे मनुष्य नामक विभूति को मात्र एक बलिवेदी के वध्य पशु की तरह ही झेल पाते हैं। उनकी बलिवेदी उस तथाकथित तंत्र, सिस्टम या 'एम्बिग्विटीज़' की ही वेदी हो सकती है। इस तरह की बलि उन विचारकों के विचार-तंत्र या व्यवस्था का पोषण तो अवश्य करती होगी किन्तु स्पष्ट ही, वह मनुष्य को उसकी निरर्थक ट्रेजेडी से नहीं उबार सकती। पूर्व हाइडेगर अथवा देरिदा के लेखन की प्रेरक विश्व-दृष्टि भला नचिकेतस् जैसे आदमी को क्या आश्वासन दे सकती है जिसे शब्द-जाल और अवधारणाएँ बिल्कुल भी आकर्षित नहीं करतीं? ये बौद्धिक अमूर्तन भला उसे क्या सहारा दे सकते हैं जो बलि-पशु होने की अपनी अन्तहीन-निरवधि नियति को जान चुका है! ऐसा जागरूक जीवात्मा तो आश्चर्यचकित ही हो सकता है—मनुष्य की आत्म-प्रवंचना की ऐसी सामर्थ्य पर जो उसे इसके लिए उकसाए कि वह अपनी इस आत्महन्ता दुर्भाग्यपूर्ण नियति को खुद अपने से ही छुपाए : प्रगति, दा ज़ाइन या 'सैडिज्म' (परपीड़न) के परदे के पीछे। अन्ततः यह परपीड़न भी क्या है—सिवा अपने ही भीतर की हिंस्र-विध्वंसात्मक वृत्ति को दूसरों की तरफ मोड़ने के? 'अन्न' जैसा ठोस बिम्ब जिस 'ट्रेजेडी' को यथावत् रेखांकित करता है उसे 'बींग-इन', 'द्व्यर्थकता' और 'ध्रुवीयता' जैसे अमूर्त शब्द अपने तथाकथित अर्थ के मोटे परदे के पीछे छिपाते हैं।

वस्तुतः यह मनुष्य के नश्वर जीवन के बोझ की ही ट्रेजेडी है जो नचिकेतस् को मृत्यु और हिंसा को भी 'सेक्रिफाइस' में परिणत करने को प्रेरित करती है। ऐसा 'सेक्रिफाइस' जो मनुष्य को इस ट्रेजेडी से सचमुच उबार सकता है। इसके साथ ही, कठोपनिषद् एक और मुद्दे के बारे में भी हमें भ्रांति-मुक्त करता है। वह यह कि "पुनर्जन्म का सत्य केवल नचिकेतस् सरीखे निर्दोष सहज भाव वाले (इनोसेंट) पर ही प्रकट हो सकता है : चिंतकों-विचारकों पर नहीं।" **(कठोपनिषद्, पृ. 207-209)**

पाठक को यह विचित्र विरोधाभास जैसा लगेगा कि दस खण्डों में उपनिषद् आदि के शांकर-भाष्य का पुनर्भाष्य करने की ठाने इस विचारक को विचारकों से ही, कहना चाहिए बौद्धिक अवधारणाओं और शब्दों से ही, इतनी वितृष्णा क्यों है? आख़िर वह भी तो विचारों और शब्दों के ज़रिये ही अपनी बात कह रहा है : उसके भी तो कुछ बीज-शब्द हैं जिनका 'खासा' इस्तेमाल वह शुरू से आख़िर तक करता रहता है। मसलन, उपर्युक्त उद्धरण में आए 'बींग', 'इनोसेंट', 'शब्द', 'पार्टिसिपेटरी सोल' आदि। ऐसे ही बारम्बार आते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कुछ और शब्द भी हैं—जैसे स्व-रति (नार्सिसिज़्म), 'इंटरप्रिटेड रिएलिटी', 'ऐक्ट ऑव प्रेडिकेशन', 'सत्-पुरुष', 'थ्योरेटिकल', 'डिज़ायर फॉर बींग', 'फाउस्टियन पैशन' (स्पेंग्लर का प्रिय मुहावरा), 'कॉन्सेप्चुअल थिंकिंग', 'पार्टीसिपेटरी ऐक्ट' (नित्य कर्म), पार्टिसिपेटरी बिम्ब-प्रतीक, 'प्रेज़ेंस', 'ऐक्ज़िस्टेंस' इत्यादि। पुस्तक के प्राक्कथन को ही पढ़ देखें तो 'कान्सेप्चुअल थिंकिंग' की अनिवार्य सीमाओं के बारे में लेखक की दृष्टि का काफी कुछ खुलासा हो जाता है और शांकर दृष्टि की उपादेयता और प्रखर प्रासंगिकता का भी। सोमराज गुप्त की इस बात से सहमत होना ही पड़ेगा कि बौद्धिक अवधारणाओं में सत्ता (रिएलिटी) की विपुलता-अप्रमेयता कभी अंट नहीं सकती। किन्तु चूँकि इस अबूझ संसार की जटिलता के सामने मनुष्य आतंकित अनुभव करता है इसलिए वह उस 'अन्य' को, यानी ममेतर सृष्टि को उसके अपने सत्य में समझने की अपनी अक्षमता को, स्वीकार नहीं कर पाता। उल्टे, वह उसका मानवीकरण करके उसे अपने अधीन करना चाहता है—जिससे उसकी अन्यता-अजनबीपन का भास खत्म हो जाए। किन्तु कुछ विरले ही व्यक्ति ऐसे भी निकल आते हैं जिन्हें मनुष्य की यह फाउस्टियन जिद्दी लालसा—समूचे विश्व को अपनी कामना और चिन्तना के बौने कद में घटाकर उसका भोग करने की लालसा—बेहद बचकानी और आत्मरतिग्रस्त (नार्सीसिस्टिक) लगती है। सत्य का यह अपलाप, यह अनुपस्थिति उन्हें क्षुब्ध और बेचैन कर देती है। वे वास्तविकता को मनुष्य के बौनेपन तक घटा देने की इस दयनीय चेष्टा के बदले स्वयं अपने को उस अन्यता के साथ एकात्म करने को प्रेरित होते हैं।

प्राक्कथन के इस मंतव्य को उपर्युक्त कठोपनिषद् वाले उद्धरण से जोड़कर देखा जा सकता है। नचिकेता उन्हीं विरलों में है। विरोधाभास देखिए कि यह अ-ज्ञानी, अबोध और अकिंचन नचिकेता सत्य को ग्रहण करने का अधिकारी सिद्ध होता है, जबकि विद्वान और विचारक माने जाने वाले लोग 'नार्सिसिस्टिक' होते हैं—इस लेखक की विवेचना के मुताबिक नार्सिसिस्टिक यूं कि वे अपनी अवधारणाओं के बन्दी होते हैं। नचिकेता का 'इनोसेंट' (बालक, अ-बोध) होना ही उसकी सबसे बड़ी अर्हता बन जाता है। इस प्रकार 'इनोसेंट' शब्द प्रस्तुत लेखक के यहाँ बहुत अर्थगौरव से भरा शब्द है। अवधारणात्मक चिंतन वाली ज्ञान-दृष्टि का ठीक उलटा।

प्रश्न उठेगा कि क्या यह बुद्धि-प्रधान 'रैशनल' मनुष्य की अवमानना है? फिर बुद्धियोग को स्वयं हमारे यहाँ भी तो इतना महत्त्व दिया गया है! नहीं! ऐसा निष्कर्ष निकालना उतावली दिखाना होगा। लेखक के मन्तव्य को हमें और गहरे पैठकर समझना होगा। भूमिका में ही उसने कुछ इस तरह की बात भी कही है कि जहाँ एक ओर हमारे चारों ओर फैला संसार हमारी बौद्धिक, या कहें अवधारणात्मक क्षमता के लिए बहुत बड़ा साबित होता है वहीं हमारी लालसाओं-कामनाओं के लिए वही बहुत छोटा पड़ जाता है। उपन्यासकार डी.एच. लॉरेंस का कथन यहां स्मरणीय है, 'अ मैन इज़ ऐज़ बिग ऐज़ हिज़ डिज़ायर'... और महात्मा गाँधी की वह प्रसिद्ध उक्ति भी कि, "यह पृथ्वी अपने समस्त जीव-जन्तुओं और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समस्त मनुष्यों की ज़रूरतों को पूरा करने में समर्थ है, किन्तु यह किसी एक आदमी की भी लोभ-लिप्सा को तृप्त नहीं कर सकती।" समस्या की जड़ इस बुनियादी असन्तुलन में है। शायद इसीलिए राग-द्वेष-वियुक्त होना सत्य के जिज्ञासु के लिए अनिवार्य माना गया है। शायद इसीलिए हमारा बुद्धियोग अनासक्ति योग भी है। 'पैशन' जहाँ पश्चिमी सोच के संदर्भ में एक गुण की तरह मान्य किया जाता प्रतीत होता है, अक्सर ही (वहाँ के कवियों की बात अलग है, जो 'काम ऑव माइण्ड, ऑल पैशंस् स्पैण्ट' की 'स्थितप्रज्ञता' जैसी चीज़ की—स्पृहनीयता को अपनी सर्जनात्मक कल्पना के बूते ही पहचान सकते हैं—अपने प्रेरणादीप्त क्षणों में) वहीं भारतीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वह श्रेयस्कर नहीं ठहरता। यह राग, यह अहंकार, सत्य के ज्ञान के मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा है। और चूँकि उसके छिपने की सबसे सुरक्षित जगह बुद्धि ही है इसलिए बौद्धिक सिद्धान्त गढ़ने की क्षमता में ही सबसे ज्यादा खतरा निहित है—सत्य को खो देने का।

किन्तु जब किसी विचारक की सत्य को जानने की उत्कण्ठा इतनी तीव्र हो जाती है कि वह बौद्धिक कुतूहल को लांघकर एकनिष्ठ अभीप्सा में परिणत हो जाती है, तब उसे अपने दैनन्दिन जीवन का यथार्थ मुरदा और नीरस प्रतीत होने लगता है। ऐसे आत्मोन्मुख निर्वतन में जुटे विचारक को उसका समस्त अर्जित ज्ञान अनर्गल और व्यर्थ लगने लगता है, क्योंकि वह उसे सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थ सिद्ध हो जाता है। तब वह इस बोध के सामने आ खड़ा होता है कि उसकी खोज इस विश्व का अवधारणात्मक वशीकरण करके उस पर प्रभुत्व पाने की लालसा से, यानी फाउस्टियन पैशन से, प्रेरित ज्ञान की खोज नहीं है बल्कि उस अवस्था की खोज है जहाँ पहुँच कर 'रिएलिटी' और उसकी चेतना के बीच खुदी हुई अपाट्य खाई पट जाये। उसकी खोज, उसकी पिपासा दरअसल, सत्ता और चेतना के सम्पूर्ण ऐक्य की है। अब चूँकि ऐसा सौभाग्य-संयोग हमारे इस नश्वर जगत् में कभी भी घटित नहीं हो सकता इसलिए वह एक दूसरे—अतिक्रामी लोक—की अभीप्सा करता है, जहाँ यह खाई पाटी जा सके।

अब मुश्किल यह है कि चेतना अपने स्वभाव से ही अपने से इतर वस्तुओं की ओर उन्मुख रहती है, तो ऐसी हालत में वह खाई कैसे पाटी जा सकेगी? लेखक के शब्दों में, "चेतना की नियति ही यह है : सत् से हमेशा वियुक्त रहना। तो, न तो लोक में, न परलोक में ही कहीं इस घाव के भरे जाने की उम्मीद दीखती है। जैसे ही हम किसी वस्तु को देखते हैं, उसकी वास्तविकता हमारी आँखों से ओट हो जाती है।" मनुष्य की तो कथा ही क्या, स्वयं सृष्टि का कर्त्ता भी नहीं जानता उसने क्या सिरजा है।...जिसने यह बनाया, वह भी इसे नहीं जानता। जिसने इसे देखा, उसने भी इसे अपनी दृष्टि से ओझल होते ही देखा। (ऋग्वेद) इसका अर्थ ग्रन्थकार के शब्दों में यह हुआ कि, "यह अन्तराल महज़ ज्ञानात्मक नहीं है। यानी, मात्र सिद्धान्त गढ़ने वाले दार्शनिकों का सरोकार ही नहीं है, बल्कि यह तो अस्तित्व-मात्र में बँधा हुआ है।" चेतना स्वयं को अपनी ही वास्तविकता से वियुक्त पाती है। उसे जिस सत् की (रिएलिटी की) तलाश है वह तार्किकों की 'रियलिटी' नहीं है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बल्कि वह 'रियलिटी' है जिसे केवल 'बींग' कहा जा सकता है, जिसे प्राक्-आधुनिक परम्परा 'अमरत्व' का नाम देती थी—यानी, वह अवस्था जहाँ चेतना 'इज़नैस' की, अस्तित्व की, हैसियत अख्तियार कर लेती है। यही आदमी का सबसे गहरा 'पैशन' है, सार्त्र ने जिसे 'व्यर्थ की झंखना' (यूज़लैस पैशन) कहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सोमराज गुप्त इस अस्तित्ववादी मुहावरे को अपने जीवनानुभव और वैदान्तिक दृष्टि की अपनी समझ के निकट पाते हैं। आधुनिक मनुष्य के रोग का निदान वे इसी भाषा में करते हैं। मगर उस रोग का इलाज उन्हें उस दर्शन में नहीं, शंकर के यहाँ दीखता है। उचित यही होगा कि उनकी बात उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत की जाय। **ईशोपनिषद् का शांकर भाष्य** के अवगाहन के सिलसिले में (पृष्ठ 5) वे पूछते हैं कि, "यदि एक स्थितिबद्ध, देहधारी अस्तित्व के रूप में मनुष्य अज्ञान, अगेहता और मृत्यु के लिए ही अभिशप्त है, यदि उसका समस्त ज्ञान और कर्म उसकी एक त्रासदी को दूर करने में नितान्त विफल है, तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि इस त्रासदी से उबरने का कोई उपाय नहीं है?" उत्तर इसका वे सकारात्मक देते हैं। वे पाते हैं कि उपनिषद् दरअसल उसी उपाय की खोज और उपलब्धि के पर्याय हैं। वह उपाय है, मार्ग है, 'इनोसेंस' का। जो है उसके प्रति स्वयं को पूरी तरह समर्पित कर देना, खोलना, उसे अपने पोर-पोर में निरीह निष्कवच भाव से भिद जाने देना। अपनी आत्मा को अकिंचन बना लेना। स्वयं को सारी कामनाओं, सारी उधेड़बुन और ईश्वर बनने की प्रच्छन्न आकांक्षा से भी मुक्त कर लेना। "मनुष्य से यह अपेक्षा नहीं की गई है कि वह अपने चतुर्दिक व्याप्त संसार की व्याख्या करने या उसे बदलने या उसे लांघने की कोशिश करेगा। उसे तो सिर्फ अपने को बिना किसी आग्रह के, सर्वथा निष्काम भाव से 'सत्ता' के प्रति खोल देना है, ताकि सत्ता का प्रवाह बेरोक उसमें प्रवेश करे, उसे छा दे, उस पर कब्ज़ा कर ले। मनुष्य को एक बाहरी दर्शक की तरह संसार का निरीक्षण नहीं करना है। देकार्त की तरह। बल्कि जो कुछ प्रत्यक्ष है उसमें सहभागी बनना है और, अन्ततः उसी में विलीन हो जाना है।" ऐसे निःशेष आत्मदानी के लिए लेखक का मानना है कि 'रियलिटी तथा एपीयरेंस', ब्रह्म और माया के भेद कोई मायने नहीं रखते। उसके लिए तो माया स्वयं ब्रह्म में बदल जाती है। जो प्रतीयमान है वह वास्तविक 'सत्' में और जो अन्य है वह अनन्य में परिणत हो जाता है, आप से आप। तब फिर उसे इस मायिक विश्व से परे किसी अतिक्रामी सत्ता की खोज में पड़ने की भी क्या ज़रूरत है? उसके लिए तो यह धरातल ही अगम-अगोचर गहनता की तरह स्वयं को उद्घाटित कर देगा। यही वह विज़्डम या बुद्धियोग है जो वेद हमें सिखाते हैं। यही समत्व बुद्धि है। यह 'समत्व' भी इस पुस्तक में बारम्बार प्रयुक्त शब्दों में है। लेखक की दृष्टि में सबसे बड़ी आध्यात्मिक सिद्धि।

समझ में आता है कि क्यों बौद्धिकता से अपने सारे मोहभंग के बावजूद इस लेखक को शांकर भाष्य के पुनर्भाष्य के लगभग जीवनव्यापी अध्यवसाय में अपनी बुद्धि-ऊर्जा का होम करने की प्रेरणा हुई। ज्ञान का, ज्ञात का ऐसा आमूल-चूल परित्याग शंकर को छोड़

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भला और किस विचारक ने किया है? शंकर विट्गेंस्टाइन की इस बात से सहमत होते कि अवधारणाएँ केवल एक सामाजिक संदर्भ में ही उपयोगी हो सकती हैं। वे प्लेटो या काँट की तरह आवधारणाओं की स्वतंत्र वास्तविकता में विश्वास नहीं करते। ईशोपनिषद् के शांकर भाष्य पर टिप्पणी करते हुए लेखक का कहना है कि, "हर 'फिनोमेनन' की एक जाति और एक सामान्य नाम होता है और वह सामान्य नाम ही उसे स्थिरता प्रदान करता है, किन्तु साथ ही वह उससे उसकी व्यक्ति-सत्ता भी छीन लेता है। अब, मनुष्य तो 'व्यक्ति' ही होना चाहता है, किन्तु अपने व्यक्तिवाचक नाम के बावजूद अपनी व्याख्या वह जाति की शब्दावली में ही कर सकता है। यानी, वह 'वे' के रूप में ही जीता है, 'मैं' के रूप में नहीं। 'वे' जबकि एक निर्जीव अमूर्तन भर है। इस प्रकार समाज और भाषा से बँधा मनुष्य एक अश्मीभूत अमूर्तन बन जाता है : कर्म करने वाला जीव भर। उसके भीतर एक ओर इस निर्जीवता और दूसरी ओर अतिक्रामी शक्ति (फ़ोर्स ऑव ट्रांसेंडेंस) में अनवरत रण छिड़ा रहता है।" व्याख्याकार के अनुसार, "स्थिरता अज्ञात का क्षेत्र है। यदि मनुष्य पूर्णतः स्थिर हो जाय तो वह निर्जीव मैटर में बदल जाता है। मृत्यु का अर्थ भी अज्ञात के क्षेत्र में प्रत्यावर्तन ही है। किन्तु यदि आत्मातिक्रामी शक्ति की विजय होती है तो वह भी तो प्रकारान्तर से अज्ञात की ही जीत हुई, क्योंकि वह विशुद्ध 'प्रवाह', विशुद्ध 'प्रक्रिया' हो जाता है। स्थिर अवधारणाओं के बिना ज्ञान सम्भव नहीं, और मनुष्य की ट्रेजेडी यह है कि वह प्रवाह भी होना चाहता है और साथ ही ज्ञान भी चाहता है, जो प्रवाह के पथराए बिना सम्भव नहीं।"

क्या यह विवेचन जीवनानुभूति के स्तर पर शांकर अद्वैत के साथ कुछ अधिक सहज सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक हो सकता है? कदाचित् **प्रश्नोपनिषद्** के भाष्य के सन्दर्भ में लेखक की निम्नांकित टिप्पणी हमारी मुश्किल को कुछ आसान कर सके। उद्धरण थोड़ा लम्बा ज़रूर है और लेखक द्वारा प्रयुक्त भाषा का हिन्दी रूपान्तरण भी आसान काम नहीं है, तो भी अभी तक पुस्तक पढ़ते हुए जो भी बातें उभर कर आई हैं उनका कुछ और खुलासा शायद इसके ज़रिये सम्भव हो सके। **प्रश्नोपनिषद्** की व्याख्या के सिलसिले में की गई लेखक की वह टिप्पणी यूं है—

"शंकर की मनुष्य के सामाजिक-राजनीतिक पशु वाले आयाम में रुचि नहीं है। उनका दृष्टिकोण न केवल 'मित्ज़ाइन' की आधुनिक अवधारणा के सर्वथा विपरीत है बल्कि प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान में प्रचलित मनुष्य सम्बन्धी धारणाओं से भी वह सर्वथा भिन्न है। उदाहरणार्थ, **रामायण** महाकाव्य में गृहस्थ जीवन को विशेष महत्त्व के साथ रेखांकित किया गया है और सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य की उदात्त सम्भावनाओं का चित्रण उसमें है। इसके ठीक दूसरे छोर पर **महाभारत** मानव-चरित्र की बुनियादी कमज़ोरी को निर्ममतापूर्वक उघाड़ता है। वस्तुतः अपनी सामाजिकता में मानव आत्म-निर्वासन के लिए अभिशप्त है। भाषाबद्ध जीवों की हैसियत से, निस्संदर्भ सामान्यीकरणों की शब्दावली में व्याख्यायित प्राणियों की हैसियत से मनुष्य वर्गीकरणों में विभाजित और शिलीभूत हो जाता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है, जिसके फलस्वरूप जीती जागती सत्ताएँ कभी अपने-आप का सीधा सामना नहीं कर पातीं और असत्य, अप्रामाणिक विश्वासों का जीवन जीती चली जाती हैं। यानी कि, मनुष्य के लिए निर्भ्रान्त आत्म-साक्षात्कार तब तक सम्भव नहीं है जब तक भाषा में उसके अस्तित्व के खूंटे गड़े रहते हैं। प्रामाणिक होने के लिए यह अनिवार्य है कि मनुष्य अपने 'मित्ज़ाइन सेल्फ' को, यानी सामाजिक स्व के आवरण को उतार फेंके। यह तभी सम्भव है जब वह उस भाषा का ही परित्याग कर दे जिसमें और जिसके द्वारा वह स्वयं को वर्गीकृत-परिभाषित करते पाता है। भाषिक 'स्व' के परित्याग की शर्त यह है कि मनुष्य अपने मन को योगसाधना के ज़रिये प्राण-प्रवाह (श्वास-क्रिया) से एकाकार कर दे। अभ्यास से यह ध्यान स्वाभाविक प्रक्रिया में परिणत हो जायगा और तब उसका श्वास-मन समान लय में प्रवाहित होने लगेगा। तभी मनुष्य स्थितप्रज्ञ और प्रशान्तचित्त होकर अपने स्व-रूप में प्रतिष्ठित होगा। यही वह क्षण है जब मनुष्य अपने इस नश्वर-निरर्थक-लौकिक जीवन के लिए मर जाता है और स्वरूप-जीवन में जग जाता है। मृत्यु भोक्ता की होती है, साक्षी की नहीं। भोक्ता कौन है? अवधारणाओं से परिभाषित अवधारणाओं का बन्दी, भाषा में जनमा यह मनुष्य। जब मनुष्य श्वास की लय में प्रवाहित होने लगता है तब भोक्ता और भुक्त का पार्थक्य भी मिट जाता है। प्राण से यह ऐकात्म्य भोक्ता का अन्न के साथ ऐकात्म्य है और यही ऐकात्म्य उसे प्रकट करता है जिसका उसने आहार किया था, अर्थात् सूर्य को। अर्थात् उस काल को जो अनन्त महाकाल है, उस प्राण को जो आत्मा है, उस शब्द को जो सबद, यानी शब्दब्रह्म है।

यहाँ सवाल उठता है कि तब फिर वैदिक कर्मयोग का क्या होगा? गीता के उस प्रतिपादन का क्या होगा जिसके अनुसार संन्यास और कर्मयोग दोनों से निश्रेयस् की प्राप्ति होती है? किन्तु दोनों के बीच चुनना हो तो 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'। क्या गीता तक पहुँचते-पहुँचते यह ग्रन्थमाला इस सतही सी लगने वाली आपत्ति का निराकरण कर देगी? अंततः भारतीय संस्कृति तो गृहस्थाश्रम पर ही टिकी हुई है। कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कृति का प्रतिपादन संस्कृति नहीं है और जिस मोक्ष की बात शंकर करते हैं उसके दृष्टिकोण से तो संस्कृति भी भाषा की तरह ही बंधन ही है, मिथ्या ही है। महाभारत को रामायण के ऊपर तरजीह देना भी हमारे ऐसे पाठकों को खटक समता है : यूं भी आदि कवि तो वाल्मीकि को ही स्वीकार किया गया है और यह विचित्र लगता है कि लेखक पश्चिम की परम्परा में साहित्य के साक्ष्य को जैसा और जितना महत्त्व देता है वैसा और उतना अपनी परम्परा के साहित्य के साक्ष्य को बिल्कुल नहीं देना। साहित्य में और लोक-परम्परा में बंसे हुए मिथकों के साक्ष्य को भी नहीं। संत कवियों में भी उसे निर्गुण मार्गी कवि ही नामोल्लेख के योग्य लगते हैं, तुलसीदास, सूरदास आदि सगुण मार्गी कवि नहीं। क्या यह भारतीय परम्परा का भी कुछ एकांगी स्वीकार ही नहीं कहलाएगा? ऐसा भी नहीं है कि लेखक शांकर-दृष्टि को उस तरह देखता हो जिस तरह शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' मानने वाले देखते हैं। वह तो, जैसा कि अभी तक की चर्चा से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

झलक ही चुका होगा, शंकर को मायावादी मानता ही नहीं है। किन्तु तब फिर श्री अरविन्द जैसे आधुनिक भरतीय मनीषियों की शंकर सम्बन्धी आलोचना निराधार नहीं हो जाती है?

भारत से गहरे प्रभावित डब्लू.सी. येट्स सरीखे कवि और अनेक पश्चिमी विचारकों को भी भारतीय दर्शन से यह शिकायत रही है कि उसमें ट्रेजिक बोध या 'ईविल' का स्वीकार नहीं है। स्वयं भारतीय 'पेरेनियल फिलॉसफी' (सनातन धर्म) के प्रस्तावक और मीमांसक हक्सले का वह प्रसिद्ध निबन्ध याद आता है, 'टेजिडी एण्ड दि होल टुथ' जिसमें वे ट्रेजिक दृष्टि के सम्मुख जीवन के समग्र सत्य को रखते हैं और यह स्थापना करते हैं कि ट्रेजिक दृष्टि जीवन को उसकी समग्रता में नहीं ग्रहण कर पाती। हक्सले ने ईसाइयत को छोड़ वेदान्त को अपनाया था। स्पष्ट ही उनकी दृष्टि में वेदांत का 'विज़न' 'ट्रेजिक विज़न' नहीं है, बल्कि ट्रेजिक को अपने में समाहित करते हुए उसे अतिक्रान्त करने वाला दर्शन है। सम्भव है कुल मिलाकर, प्रस्तुत ग्रन्थमाला के लेखक का आकलन भी कुछ वैसा ही हो। किन्तु अभी तो वैसा नहीं लगता, शांकर अद्वैत की उसकी विवेचना के मूल में उसी 'ट्रेजिक' की समझ ही सबके ऊपर हावी होती लगती है। उसमें जीवन-जगत् की अनिवार्य दुःखात्मकता और निस्सारता की प्रतीति बद्धमूल है जिसे वह पाश्चात्य साहित्य में अभिव्यक्त ट्रेजिक बोध के समकक्ष रखता और उसी से पुष्ट करता चलता है। ईसाई थियोलोजी का भी उस पर खासा प्रभाव है जिसे वह आधुनिक मानववाद की तुलना में बहुत यथार्थदर्शी बताता है—टी.एस. इलियट की तर्ज़ पर।

पुस्तक के प्राक्कथन में लेखक ने स्वयं ही अपने बौद्धिक अकेलेपन का एक्सिस्टेंशियल बयान करते हुए जो आत्मबिम्ब उभारा है उसे भी हिसाब में लेना होगा। आरम्भ ही उसने अवधूतगीता के एक श्लोक से किया है 'समरसमग्नो भाषितपूतः / प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः'। तत्त्व-दर्शन का आदर्श और प्रतिमान जिसके लिए यह 'प्रलाप' हो, तर्क, युक्ति, व्याख्या, मीमांसा नहीं, उसे बौद्धिकों, विशेषकर आधुनिक बौद्धिकों, की बिरादरी से भला क्या लेना-देना हो सकता है? फिर भी उसे यदि ऐसे सुदीर्घ बौद्धिक और व्याख्यात्मक अध्यवसाय में अपनी बुद्धि-ऊर्जा का विनियोग करने की ज़रूरत महसूस हुई तो क्यों हुई? 'प्रस्थानत्रयी' के भाष्य उसके कथनानुसार "उन असंतुष्ट, भवबाधाग्रस्त आत्माओं के लिए ही रचे गए हैं जो निरन्तर स्वाध्यायनिरत रहते हुए भी कभी 'स्कॉलर' नहीं कहलाते, जो जीवन के किसी असंदिग्ध अर्थ और उद्देश्य की तलाश में जिन्दगी भर भटकते रहते हैं और अकृतार्थ होने को अभिशप्त हैं, जो न धर्म-कर्म का पालन करने वाले सद्गृहस्थों के बीच खपते हैं, न सुसंस्कृत एलीट वर्ग में।" किन्तु आगे वह यह भी कहता है कि "हर क्षेत्र में विफल होना जिनकी नियति है, 'प्रस्थानत्रयी' उन्हीं के निकट अपना मर्म प्रकाशित करती है। वह उन्हीं के लिए मुक्ति का आश्वासन भी रच सकती है क्योंकि बाकी लोगों के लिए तो फ्रायड का 'रियालिटी प्रिंसिपल' ही पर्याप्त है। वह रियालिटी प्रिंसिपल जो आधुनिक उपभोक्ता समाज और उसके कर्मसंगियों का, उसी के अनुरूप बौद्धिक क्रिया-कलापों में लगे हुए बुद्धिजीवियों का, यथार्थ है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ज़ाहिर है कि यह लेखक स्वयं को उन असंतुष्ट आत्माओं में ही गिनता है जो ऐसे घटिया यथार्थ के निमंत्रण को स्वीकार करके उसी के सहारे अपने 'नरक' से, यानी अपनी बौद्धिक-स्नायविक यातना से, मुक्ति नहीं चाहते, इसलिए कि "वह उनके लिए मुक्ति की विडम्बना है, भयानक आत्म-प्रवंचना।"

सोमराज गुप्त मानते हैं कि ऐसे ही कहीं न खपने वालों के लिए शंकर ने अपने भाष्य रचे हैं, न कि सिद्धान्त गढ़ने वालों और विशुद्ध विद्वानों के लिए। वे शंकर के आधुनिक अध्येताओं से ही नहीं, पारम्परिक व्याख्याकारों से भी असहमति व्यक्त करते हैं। इसलिए कि "वे शंकर द्वारा खोजे गए मुक्ति-मार्ग को भी एक दार्शनिक संरचना में बदल डालते हैं।" तो? क्या यही दार्शनिकों का काम नहीं है? सोमराज इसका उत्तर 'नहीं' में देते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि, "शंकर का अनुसरण करते हुए जब हम सत् के बारे में उपनिषद् की उक्तियों का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि वे एक-दूसरे को काटती चलती हैं। इस तरह औपनिषद स्थापनाएँ भी मिथ्या संरचनाएँ ही हैं जिनके मिथ्यात्व को स्वयं उपनिषद् स्वीकार करते हैं।" (भूमिका, पृ. xi) तो क्या यही वह ज्ञान है जो शंकर का 'वेद-वित्' पाता है? 'हाँ!' लेखक का कहना है : "वेदाध्ययन के लिए समस्त कामनाओं का विरेचन करके उपनिषदों का जिज्ञासु जो ज्ञान उपलब्ध करता है वह है स्वयं विचार-प्रक्रिया का ही विरेचन, तथाकथित सोच-विचार से ही मुक्ति। तब उसके पास बचा क्या सिवाय केवल शब्द के? तब इस अकिंचन सर्वहारा जीवात्मा से कहा जाता है : इस सबद का ध्यान करो—इतना गहरा ध्यान कि सबद के सिवा कुछ रहे नहीं। तुम तो कतई नहीं। तभी सबद स्वयं को ब्रह्म की तरह सत्य-स्वरूप में उन्मीलित करेगा।" उलटबाँसी सरीखी लगती है लेखक की भाषा यहाँ, जब वह कहता है "असत्य की इस औपनिषद वकालत का और बाद में उसे नकारने का उद्देश्य सत्य के जिज्ञासु साधक को असत्य (यानी, शब्द) का आराधक बनाना है : इसलिए, ताकि तीर्थयात्री यह जान ले कि उसकी यात्रा का गन्तव्य और कुछ नहीं यात्रा स्वयं है : ताकि वह माया को ही ब्रह्म की तरह देख और पा सके।"

पाठक यहाँ उलझन में पड़ जाएंगे कि लेखक यह कह क्या रहा है? माया में ही ब्रह्म की उपलब्धि! क्या यही शंकर का खोजा मुक्ति-मार्ग है? जी हाँ, लेखक को इस बारे में कोई उलझन नहीं है। वह कहता है, "शंकर मायावादी हैं—इस प्रचलित धारणा का मूलोच्छेद करने में यह पुस्तक कोई कसर नहीं रख छोड़ेगी।" प्रमुख प्रयोजन ही पुस्तक के रचे जाने का यह है। शब्द में सहभागिता (लेखक के द्वारा अक्सर प्रयुक्त बीज-शब्दों में से एक) की परम्परा, उसके मुताबिक वेद जितनी ही पुरानी है। यह शब्द या सबद 'रियलिटी' का ऐसा प्रतीक है मानो वह स्वयं रियलिटी ही हो। विपश्यना-ध्यान के रूप में भी उसके कथनानुसार यही परम्परा फलती-फूलती रही है। तदुपरान्त यह पूरे दम-खम के साथ शांकर-वेदान्त में और फिर कबीर, नानक, रैदास, ज्ञानेश्वर आदि मध्यकालीन संत कवियों में प्रकट होती है। आधुनिक युग में रमण महर्षि और श्री रामकृष्ण परमहंस में भी यह परम्परा प्रकट होती है। रमण महर्षि का 'मैं कौन हूँ' मन की उसी निरुपाधिक स्थिति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को उपलब्ध करने का तरीका है। इसलिए कि वह 'मैं' शब्द पर एकाग्र होने का आह्वान है, जो विषयी शब्द है—निर्गुण-निराकार। इस 'मैं' का ध्यान ही असली ज्ञान है। 'मैं मनुष्य हूँ' यह कहना ही अज्ञान है। परम्परा वही है, निर्दोष, निस्संग, 'सबद' की उपासना की। उसी में स्वयं को विलीन करके आत्मोपलब्धि की। स्वयं लेखक जिन्हें अपना गुरु मानता है, जिन्हें उसने यह ग्रन्थ समर्पित किया है—श्री मंगतराम जी, वे भी उसी परम्परा के आधुनिकतम प्रतीक हैं। यहाँ पुस्तक के कुछ अत्यन्त मार्मिक प्रसंगों का उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं होता जहाँ (मुण्डकोपनिषद् की चर्चा के संदर्भ में) लेखक के गुरुदेव और उनके एकनिष्ठ हनुमान सरीखे सेवक-शिष्य बनारसी के बीच के संवाद को अंकित किया गया है। बनारसी को इस एकनिष्ठ प्रेम के बूते ही गुरुदेव का ऐसा सान्निध्य प्राप्त होता है जैसा किसी को नहीं होता। वह गुरुदेव की समाधि अवस्था का भी साक्षी बन जाता है। समाधि अवस्था में ही गुरुमुख से निःसृत पदों को बनारसी टीपते जाते हैं। बाद में एक जगह पूछते हैं, "आपकी दिव्य वाणी हिन्दी में थी जबकि आपने तो कभी हिन्दी सीखी नहीं, उर्दू ही पढ़ी थी।" इस पर गुरुदेव का उत्तर बड़ा दिलचस्प और मार्मिक है। वे 'मैं' शब्द का प्रयोग तो करते ही नहीं। अपनी ओर इशारा करना होता है तो 'यह' शब्द इस्तेमाल करते हैं। वे कहते हैं—

"प्रेमी, वे शब्द वैसे ही निकलते हैं जैसे मेरे प्रभु चाहते हैं। इसका (यानी मेरा) उन पर कोई बस नहीं। यह तो खुद तुम्हारे मुँह से इन पदों को सुनकर चकित होता है। यह सचमुच नहीं जानता, बिल्कुल नहीं जानता कैसे कहाँ कौन सी कविता फूटी। न यही कि वह कैसी है। यह सिर्फ हुक्म बजाना जानता है। वही बोलता है जो इससे बुलवाया जाता है। इसके प्रभु द्वारा। जीवों के कल्याण के लिए वह सनातन शब्द अपने को इसी तरह शब्दों में प्रकट करता है। देश और काल की ज़रूरत के मुताबिक ही यह कृपा काम करती है। वह स्वयं को संस्कृत या अंग्रेज़ी में भी उसी लाघव के साथ व्यक्त कर सकती है। सत्-पुरुष अपने लोगों की वाणी में ही उन तक पहुँचे हैं, पहुँचते रहेंगे। वे हर युग, हर देश में होते हैं। न मुहम्मद अन्तिम पैग़म्बर थे, न सिख गुरु। इसी वाणी में समता (=समत्वबुद्धि) की बात सही रूप में प्रगटती है। कालान्तर में इसका प्रभाव पड़ेगा—अभी नहीं। जो सत्य में प्रतिष्ठित हो चुके हैं वही संसार को सही तरह से जगा सकते हैं। वह देश जो समता से हटता है, बचेगा नहीं, न वे नियत कानून, जो उससे मेल नहीं खाते, किसी का भला कर सकते हैं।"

यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि लेखक का शब्द के प्रति यह लगाव उपर्युक्त उच्चतम आध्यात्मिक सिद्धि के स्तर पर उपजे शब्द तक ही सीमित नहीं है, उससे कुछ नीचे के स्तरों पर बड़े कवियों का शब्द-प्रामाण्य भी उसके लिए कितना महत्त्व रखता है, यह इसी से साबित हो जाता है कि इस ग्रन्थ में वर्ड्स्वर्थ, रिल्के, शेक्सपीयर, होमर आदि कवियों की कृतियों से उद्धरण भी कई जगह बड़ी दार्शनिक सूझ-बूझ के साथ इस्तेमाल किये गये हैं। लेखक का मानना है (और उसकी इस मान्यता से यह समीक्षक पूर्णतः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सहमत है) कि पश्चिम की काव्य-परम्परा उपनिषदों की मूल दृष्टि के कहीं अधिक निकट है—बनिस्पत उसकी दार्शनिक-धार्मिक परम्परा के। हो सकता है सोमराज गुप्त की व्याख्या-शैली का यह पक्ष विद्वानों को नागवार गुज़रे। किन्तु कवि की अन्तर्दृष्टि और गहराई बुद्धि से असंगत ही होती है, यह मान लेने का क्या आधार है? प्रस्तुत ग्रन्थ में कई जगह इन दोनों परम्पराओं को साथ-साथ रख कर देखा गया है और उद्देश्य उनके बीच सार्थक संवाद को उकसाना ही है, जो सचमुच ही रंग लाया है। मेरा प्रश्न यह है कि यदि यह ग्रन्थ हिन्दी में लिखा जाता तो क्या लेखक को इसी तरह की साखी से अपने मंतव्य को संवलित करने की प्रेरणा होती?

एक बात और : आजकल के विद्वानों में औपनिषद परम्परा को भारत की अनेक दार्शनिक परम्पराओं में मात्र एक परम्परा मान लेकर उसका अवमूल्यन करने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। उन्हें कुछ बौद्ध नैयायिकों और नव्य न्याय वाले तार्किकों की भाषा ही अधिक रास आती है। सोमराज गुप्त इसके ठीक विपरीत इस दृढ़ विश्वास से प्रेरित हैं कि "इन तार्किकों द्वारा मचाई गई सारी तोड़-फोड़ के बावजूद भारत की आत्मा औपनिषद ही रही आई है।" इतना ही नहीं, "भारत का तर्कशास्त्र भी" इनके मतानुसार "अपने मूल स्वरूप में विश्लेषणात्मक न होकर सहभागितामूलक (पार्टिसिपेटरी) ही है। समकालीन भारतीय दर्शन के विद्वान इस बारे में क्या कहेंगे?

हमने इस समीक्षा की शुरुआत पश्चिम की लोक-चेतना में बसे फाउस्ट के मिथक के उल्लेख से की थी, जिससे इस पुस्तक का नामकरण प्रेरित हुआ है। मन में प्रश्न उठता है—भारतीय जनमानस में बसी ऐसी कौन सी मूर्ति होगी जो ज्ञान और शक्ति के वैसे मेल को झलकाती है? फाउस्ट जिस मानवीय आकांक्षा को मूर्त करता है कुछ उससे तुलनीय मिथकीय सृष्टि अपने यहाँ की कौन हो सकती है? हिन्दी के सुविख्यात आधुनिक कवि और चिंतक अज्ञेय ने एक बार यही प्रश्न इन पंक्तियों के लेखक से किया था। उत्तर भी उन्होंने दिया था : हनुमान का मिथक। हनुमान जो 'अतुलित बलधाम' भी हैं और ज्ञान-गुण-सागर भी हैं, जिनकी अकूत सामर्थ्य के लिए कुछ भी असम्भव नहीं। अज्ञेय की इस बात ने मुझे बेहद चौंका दिया था। अचानक इस ग्रन्थ को पढ़ते हुए, पता नहीं क्यों वह प्रसंग स्मृति में जोरों से उभर आया। क्या इसलिए कि शक्ति की मौलिक कल्पना ही दोनों जगह नितांत भिन्न है? फाउस्ट की शक्ति-साधना प्रकृति पर प्रभुत्व की कामना से प्ररित है जबकि हनुमान तो इतने अ-स्वचेतन, इतने भोले हैं कि उन्हें उनकी सामर्थ्य दूसरे बताते हैं। उनकी यह 'इनोसेंस' ही उन्हें राम का अन्तरंग बनाती है। यह वह शक्ति है जो अहंभाव से सर्वथा शून्य सेवकाई से उपजती है—चरम नम्रता और अकिंचनता ही हनुमान की संकटमोचक शक्ति का स्रोत है। पाठक देखेंगे कि इस पुस्तक में भी स्थायी भाव की तरह यही बात बार-बार उभर कर सामने आती है कि सत्य ज्ञान भी उसी पर प्रकट होता है जिसने अपने को शून्य बना लिया है, जो 'बालवत्' बन गया है, जो नचिकेतस् की तरह (जो कुछ नहीं जानता—जिसका नाम ही उसका परिचय है)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रामकृष्ण परमहंस की तरह, गुरु मंगतराम की तरह, लेखक के अपने ही प्रिय मुहावरे में 'इनोसेंट' है। एक अन्तिम प्रश्न इस पुस्तक के लेखक से : इस इनोसेंस में और उस इनोसेंस में कितना-कैसा साम्य अथवा अन्तर है जिसकी झलक डब्लू.सी. येट्स की कविता में मिलती है? जिस 'नेगेटिव कैपेबिलिटी' को लेखक ने बारम्बार रेखांकित किया है उसमें और इस 'ऐफरमेटिव कैपेबिलिटी' के बीच कोई सम्बन्ध है कि नहीं? यदि है तो क्या 'दि वे ऑव एक्सेप्टेन्स' भी सत्य या आत्मा की उपलब्धि तक पहुँचने का उतना ही वैध रास्ता नहीं है जितना उनका, या शंकर का 'दि वे आफ रिजेक्शन' है?

कन्सिडरिंग दैट, ऑल हेट्रेड ड्रिवन हेंस
दि सोल रिकवर्स रेडिकल इनोसेंस
ऐंड लर्न्स ऐट लास्ट दैट इट इज़ सेल्फ डिलाइटिंग
सेल्फ-अपीसिंग, सेल्फ-अप्राइज़िंग,
ऐंड दैट इट्स ओन स्वीट विल इज़ हैवन्स विल,
शी कैन, दो ऐव्री फेस शुड स्काउल
ऐंड ऐव्री विन्ड्री क्वार्टर हाउल
ऑर ऐव्री बैलोज़ बर्स्ट, बी हैप्पी स्टिल

रमेशचन्द्र शाह,
निदेशक, निराला सृजनपीठ,
सी 165/1, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
भोपाल 462002

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न्यायशास्त्रीयविचारपद्धत्या देहात्मवादस्य सम्भावना

बदरीनाथ शुक्लः

बदरीनाथ शुक्ल नव्यन्याय के आधुनिक दार्शनिकों में अपनी विलक्षण प्रतिभा और नवचिन्तन के लिए प्रसिद्ध हैं। उनका यह निबन्ध न्यायशास्त्र के स्वीकृत विचारतन्त्र में रूढ़िभंग की एक अभूतपूर्व चेष्टा है। न्यायदर्शन में आरम्भ से ही आत्मा की धारणा विचार के केन्द्र में रही है। बदरीनाथ जी ने एक प्रकार के देहात्मवाद का समर्थन करते हुए यहाँ नव्यन्याय प्रणाली के सूक्ष्म युक्तिकौशल से दिखाया है कि आत्मा की धारणा को हटा भी दिया जाये तो भी न्याय की व्यवस्था अपने मूलतन्त्र या सिद्धान्त से च्युत नहीं होती।

हम यहां साथ ही पण्डित राजाराम शुक्ल का अधिकारपूर्ण लेख भी दे रहे हैं, जहां राजाराम नव्यन्याय की ही परंपरा, शैली और परिपाटी से बदरीनाथ जी को पूर्वपक्ष बनाते हुए प्रतियुक्तियों द्वारा दिखाते हैं कि बदरीनाथ जी की चेष्टा न्याय में देहात्मवाद को समंजस सिद्ध करनें में असमर्थ है।

(विषयोऽयं भारतीयदार्शनिकानुसन्धनपरिषदा सारनाथे समायोजितायां न्याय-पण्डित-गोष्ठ्याम् आचार्यश्रीबदरीनाथशुक्लमहोदयेन प्रस्तुतो विद्वद्भिः साभिनिवेशं सम्यक् चर्चितश्च)।

न्याय-वैशेषिकशास्त्रयोः प्रामाणिकग्रन्थानां पर्यालोचनेन आत्मनो विषय एष निष्कर्षः प्राप्यते यद् आत्मा क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमदिक्कालमनोभ्यो भिन्नं नवमं द्रव्यम्। स च द्विविधः—जीवात्मा परमात्मा च। तत्र जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नः, शरीरेन्द्रियमनप्राणेभ्यो व्यतिरिक्तः सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगी, कर्तृत्वभोक्तृत्वाश्रयः, कृत्स्नैर्मूर्तद्रव्यैः संयुज्यमानोऽपि पूर्वार्जितादृष्टवशाद् येन देहेन सह विजातीयसंयोगलक्षणं भोगनियामकसम्बन्धं लभते तेनैव देहेन पूर्वकर्मणाम् उच्चावचानि सुखदुःखात्मकफलानि भुङ्क्ते। नवनवानि च कर्माणि कुर्वन् पुण्यपापापरपर्याययोः धर्माधर्मयोः स्वकीयं कोषं वर्द्धयते। अभिनवैरनुभवैरुत्पाद्यमानं संस्कारराशिञ्च उपचिनुते। सर्वेष्वेषु कर्मसु तदीयादृष्टाकृष्टं मनस्तस्य साचिव्यं विभर्ति। जीवात्मा हि तन्नये ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्म-भावनासुखदुःखात्मकानां नवविशेषगुणानां संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाभिधानां पञ्च-सामान्यगुणानाञ्चाश्रयः; स्वकीयकर्मानुसारेण विविधासु योनिषु जायते। मनुष्यशरीरेण च स्वात्मतत्त्वसाक्षात्कारमासाद्य अपवर्गापरनाम्नो निःश्रेयसस्याधिकारी प्राणि-जीवप्रभृतिशब्दैः व्यपदेश्यश्च।

परमात्मा पुनः जीवात्मभ्यो भिन्नः, अद्वितीयः जगत्कर्ता, वेदप्रणेता, स्वोपासनया च जीवेभ्यो भौमदिव्यसुखप्रदाता, जीवानाञ्च तदर्जितकर्मफलभोगे मोक्षलाभे च तेषां सहायकः, नित्यज्ञानेच्छा-प्रयत्नानां संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागसहितानां नवगुणानामाधरः। ईश्वर-प्रभु-भगवत्प्रभृतिशब्दैर्व्यपदेश्यः। सृष्टिरक्षा-संहारकर्मानुरोधेन ब्रह्म-विष्णु-शंकरसंज्ञाभिर्बोध्यश्च।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बाल्येऽनुभूतस्य वार्द्धक्ये स्मरणानुपपत्त्या मृतदेहे अविद्यमानतया च ज्ञानं न देहाश्रितम्। ज्ञान-मूलकत्वादेवान्येऽपि विशेषगुणा न देहाश्रिताः। एकेनेन्द्रियेणानुभूतस्य स्मृतेः तदिन्द्रियनाशेऽपि जायमानतया एकदेहे अनेकज्ञानिनां सत्त्वे तेषां विपरीतासु दिक्षु युगपद् देहनयनप्रवृत्तिसम्भवनेन देहोन्मथनापत्त्या च ज्ञानादिकं नेन्द्रियाश्रितम्। मनसोऽणुतया ज्ञानादीनां तदाश्रितत्वे तेषां प्रत्यक्षानुपपत्त्या ज्ञानादयो न मनोनिष्ठाः, किन्तु एभ्यो भिन्न आत्मैव ज्ञानादीनामाश्रयः।

अत्र चिन्त्यते—न्यायवैशेषिकग्रन्थेषु उपलभ्यमान एष आत्मवादो विमृश्यमानो नावकाशं लभते, मनसः सहयोगेन शरीरस्यैव आत्मत्वाभ्युपगमसम्भवात्। तथाहि आत्मा नातिरिक्तं द्रव्यम्, देहमनोभ्यामेव तत्साधनीयस्य निखिलप्रयोजनस्य निर्वर्तयितुं शक्यत्वात्। तदेवमेतन्नये देह एव बुद्धि-सुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां प्रत्यक्षयोग्यगुणानामाश्रयः। अयोग्यानां धर्माधर्मभावना-नामाश्रयो मनः। पृथिव्या विशेषगुणानां कारणगतैः सजातीयगुणैः पाकेन वा उत्पाद्यमानतया बुद्ध्यादयः पार्थिवस्य मनुष्यादिदेहस्य विशेषगुणा न भवितुमर्हन्ति। देहावयवानां जडतया बुद्ध्यादिराहित्येन तदीयगुणैः देहे बुद्ध्यादीनामुत्पत्त्यसम्भवात्। पाकेनाऽपि देहे तदुत्पत्तेः पाकजगुणानां सजातीयगुणध्वंसपूर्वकतया दुर्घटत्वादिति न शङ्क्यम्, बुद्ध्यादीनां शरीरस्य सामान्यगुणत्वाभ्युपगमात्। पृथिव्याः सामान्यगुणानामुत्पत्तौ च अवयवगतसजातीयगुणानां पाकस्य वा अनपेक्षितत्वेन शरीरे अन्यसामान्यगुणनामिव बुद्ध्यादीनामपि प्रकारान्तरेण उत्पत्तिसम्भवात्। बुद्ध्यादीनां शरीरस्य सामान्यगुणत्वाभ्युपगमे रूपादीनामिव यावच्छरीरं तदवस्थानमपि नापादयितुं शक्यम्। शरीरगतानां संयोगादिसामान्यगुणानामिव तद्गतानां बुद्ध्यादिसामान्यगुणानामपि शरीरसत्त्वे निवृत्तिसम्भवात्।

बुद्ध्यादीनां शरीरगुणत्वे तेषां कुतो न तदीयविशेषगुणत्वमिति न शङ्कनीयम्, विशेषगुण लक्षणेन तत्संग्रहासम्भवात् तथाहि विशेषगुणत्वं नाम द्रव्यविभाजकोपाधिविशिष्ट-जातिमद्गुणत्वम्। वैशिष्ट्यञ्च स्वाश्रयवृत्तितावच्छेदकत्व-स्वानाश्रयवृत्तितानवच्छेदकत्वोभय-सम्बन्धेन। गन्धत्वं, रूपत्वव्याप्यं नीलत्वादिकम्, अनुष्णाशीतस्पर्शत्वव्याप्यं पाकजन्यातवच्छेदकं वैजात्यम्, अभास्वरशुक्लत्वव्याप्यं पाकजन्यातवच्छेदकं वैजात्यम्, मधुरत्वव्याप्यं पाकजन्यतावच्छेदकं वैजात्यञ्चोक्तोभयसम्बन्धेन द्रव्यविभाजकोपाधिना पृथिवीत्वेन विशिष्टं भवतीति तदाश्रया गन्धादयः पृथिव्याः विशेषगुणाः। शीतत्वस्य, स्नेहत्वस्य, सांसिद्धिकद्रवत्वत्वस्य पाकजन्यतानवच्छेदकमधुरत्वव्याप्यवैजात्यस्य च द्रव्यविभाजकोपाधाना जलत्वेन उक्तसम्बन्धाभ्यां विशिष्टतया तद्वन्तः शीतादयो जलस्य विशेषगुणाः, उष्णत्वं भास्वरशुक्लत्वं च द्रव्यविभाजकोपाधिना तेजस्त्वेन विशिष्टतया तद्वन्त उष्णादयस्तेजसो विशेषगुणाः। पाकजन्यतावच्छेदिकाया अनुष्णाशीतस्पर्शत्वव्याप्याया जातेर्द्रव्यविभाजकोपाधिना वायुत्वेन विशिष्टतया तद्वान् अपाकजानुष्णाशीतस्पर्शो वायोः विशेषगुणः। शब्दत्वस्य द्रव्यविभाजकोपाधिनाऽऽकाशत्वेनोक्तसम्बन्धाभ्यां विशिष्टतया तद्वान् शब्द आकाशस्य विशेषगुणः। बुद्ध्यादीनां देहगतत्वे तेषां पार्थिवजलीयतैजसवायवीयदेहेषु वृत्तितया बुद्धित्वादिजातयः पृथिवीत्वादिषु न केनापि द्रव्यविभाजकोपाधिनोक्तसम्बन्धद्वयेन विशिष्टाः, अत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एव तद्वतां बुद्ध्यादीनां पृथिव्यादिविशेषगुणत्वाऽसम्भवेन बुद्ध्यादयः शरीरस्य न विशेषगुणाः; अपि तु सामान्यगुणा एवेति सुस्पष्टम्।

धर्माधर्मभावनानामेतन्मते मनोनिष्ठतया धर्मत्वादिजातीनां द्रव्यविभाजकोपाधिना मनस्त्वेन उक्तसम्बन्धाभ्यां विशिष्टतया तद्वन्तो धर्मादयो मनसो विशेषगुणाः।

बुद्ध्यादीनां शरीरगुणत्वे रूपादीनामिव तेषामपि चक्षुरादिभिः ग्रहणेन भाव्यमित्यपि न शङ्कार्हम्, शरीरगुणानां केनचिदेकेनैवेन्द्रियेण ग्रहणमिति नियमाभावेन चक्षुषा रूपस्य, त्वचा स्पर्शस्य, घ्राणेन गन्धस्य, रसनया रसस्येव मनसा बुद्ध्यादेर्ग्रहणाभ्युपगमे बाधकाभवात्। शरीरगुणानां बाह्येन्द्रियेणैव ग्रहणमिति नियमेन मनोग्राह्याणां बुद्ध्यादीनां शरीरगुणत्वं न सम्भवतीत्यपि न वक्तुमर्हम्, शरीरस्य ज्ञानादिमत्त्वे तद्ग्राहकस्य मनसोऽपि बाह्यद्रव्यगुणग्राहकतया बहिरिन्द्रियत्वस्वीकारसम्भवाद् अन्तरिन्द्रियत्वव्यपदेशस्य चान्तःस्थितत्वमात्रानुरोधित्वात्। किञ्च शरीरस्य बहिर्भागे विद्यमानानामेव गुणानां बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वनियमः, बुद्ध्यादयस्तु शरीराभ्यन्तरभागे जायन्ते, अतस्तद्ग्रहणार्थम् अन्तरिन्द्रियस्यैवावश्यकतया न रूपादीनामिव शय्यादिसंयोगादीनामिव च बुद्ध्यादीनां बहिरिन्द्रयेण ग्रहणामापादयितुं शक्यम्।

अयमाशयः—सांख्यदर्शने इन्द्रियाणां ज्ञान-कर्म-रूपप्रयोजनभेदेने द्विविधतया उभयविधेन्द्रियाणां सहकारितया यथा मनो ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियोभयात्मकमुच्यते, तथैव बुद्ध्यादेर्देहादिगुणत्वे मनो बाह्यद्रव्यगुणग्राहकतया बहिरिन्द्रियं शरीराभ्यन्तरस्थिततयाऽन्तरिन्द्रियं च। शरीरस्य ज्ञानादिमत्त्वे तस्य रूपादयो यथा अन्येन दृश्यन्ते, तथैव तस्य ज्ञानादयोऽपि अन्येन अनुभूयेरन्, इत्यपि न शङ्कनीयम्। एकशरीरगतस्य रूपादेरन्यशरीरगत चक्षुरादिभिः सन्निकृष्टत्वेनान्येन तद्गुणसम्भवेऽपि एकशरीरगतस्य ज्ञानादेरन्यशरीरस्थेनाणुना मनसा असन्निकृष्टतया उक्तापत्त्यसम्भवात् प्रत्यक्षानुभवस्य इन्द्रियसन्निकृष्टमात्रविषयकत्वात्। शरीरस्य ज्ञानादिमत्वे बाल्ये अनुभूतस्य वार्धक्ये स्मरणानुपपत्तिः, बालवृद्धशरीरयोः भिन्नतया बालशरीरानुभवजन्यसंस्कारस्य वृद्धशरीरे अभावाद् इत्येषापि शङ्का नोचिता, शरीरात्मवादे शरीरगतेनानुभवेन संस्कारोत्पत्तेर्मनसि स्वीकारेण बालशरीरगतमतनसो वृद्धशरीरेऽपि सत्त्वेन मनोनिष्ठसंस्कारमहिम्ना बाल्येऽनुभूतस्य वृद्धशरीरेऽपि स्मरणस्योत्पत्तिसम्भवात्।

देहात्मवादे अनुभवस्य संस्कारं प्रति स्वाश्रयविजातीयसंयोगसम्बन्धेन संस्कारस्य च स्मृतिं प्रति स्वाश्रयविजातीयसंयोगसम्बन्धेन हेतुत्वाभ्युपगमात्। इन्द्रियैः सह शरीरावयवैर्वा सह मनसो यः संयोगः, स न विजातीयमनोदेहसंयोगगत-संयोगत्वव्याप्यवैजात्यभाजनम्, अतो न इन्द्रियेषु शरीरावयवेषु वा संस्कारस्य स्मृतेर्वा उत्पत्त्यापत्तिः। पूर्वभवशरीरसहयोगिनो मनसः, तच्छरीरजन्याऽदृष्टवशाद् उत्पन्ने नितान्तं नूतनबालशरीरेऽपि विजातीयसंयोगेन प्रविष्टतया तत्रापि पूर्वशरीरानुभूतार्थस्य स्मरणोत्पत्तौ बाधकाभावेन सद्यो जातस्य शिशोः स्तन्यपाने प्रवृत्तिरपि निर्बाधा, पूर्वशरीरस्थमनसः पूर्वशरीरगतस्तन्यपानेष्टसाधनताऽनुभवजन्यसंस्कारवतः शिशुशरीरेऽनु- प्रविष्टतया तन्निष्ठोक्तसंस्कारमहिम्ना तत्र स्तन्यपानेष्टसाधनतामरणस्य निरुपद्रवत्वात्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

देहात्मवादे पूर्वशरीरेणानुभूतार्थस्योत्तरशरीरेण स्मृतेरुपगमे चैत्रेणानुभूतस्य मैत्रे स्मरणापत्तिरित्यपि नापादयितुं शक्यम्, चैत्रानुभवजन्यसंस्कारस्य चैत्रमनस्येव सत्त्वात् तस्य च मैत्रशरीरेऽसत्त्वात्।

वर्तमानदेहस्वरूप आत्मा आजीवनं विविधेषु कर्मसु व्यापृतो भवति। न च समेषां कर्मणां फलं लभते। मृते तस्मिन् तदभुक्तफलककर्मणां वैय्यर्थ्यरूपं कृतहानं नूतनदेहस्वरूप आत्मा च जन्मकालादेव सुखदुःखात्मकानि फलानि भुङ्क्ते, इति अकृतकर्मणामपि फलोदयरूपोऽकृताभ्यागमश्च देहात्मवादे दुष्परिहरे, इत्यपि न वक्तुमर्हम्, वर्तमानशरीरेण कृतानामभुक्तफलानां कर्मणां धर्माधर्मव्यापारभाजनस्य तदधिष्ठातृमनसो नूतने तदर्जितादृष्टजनिते देहे प्रवेशेन तत्र तत्कर्मणां फलभोगसम्भवेन तेषां सार्थक्यात्। सर्वथा नूतने देहेऽपि पूर्वदेहकृतकर्मणामेव फलोदयेनाकृताभ्यागमस्याभावाच्च। देहात्मवादे नायं नियमो यद् यो यत्कर्म करोति, स एव तत्फलं भुङ्क्ते, तस्यातिरिक्तात्मवादस्य चिरप्ररूढवासनामूलकतया प्रकृतवादेऽनभ्युपगमात्, तत्स्थाने यन्मनोऽविष्ठितेन देहेन यत्कर्म क्रियते, तत्फलं तन्मनोऽधिष्ठितेनैव देहेन भुज्यत इति नियमोपगमात्। मनसि देहाधिष्ठातृत्वं देहानुयोगिकविजातीयसंयोगप्रतियोगित्वं देहस्य मनोऽधिष्ठितत्वं च मनः प्रतियोगिक विजातीयसंयोगानुयोगित्वम्। शरीरेण कृतयोर्विहितनिषिद्ध कर्मणोर्मनस्यसत्त्वेन कुतस्तत्र ताभ्यां पुण्यपापोदयः? कथं च मनोनिष्ठाभ्यां ताभ्यां तद्रहिते नूतने शरीरे सुखदुःखात्मकफलोदय इत्यपि नाशङ्कितुं शक्यम् शरीरकर्मणः स्वाश्रयविजातीयसंयोगेनादृष्टं प्रति मनोनिष्ठादृष्टस्यापि तादृशसम्बन्धेन सुखदुःखात्मकफलं प्रति कारणत्वोपगमेनोक्तशङ्काया अनवकाशत्वात्। अनुभवसंस्कारस्मृतिषु कर्मादृष्टफलेषु च साक्षात् सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावस्य उक्तसम्बन्धेन तेषु कार्यकारणभावापेक्षया लाघवात् तदनुरोधेनातिरिक्तात्मवाद एव स्वीकर्तुमुचित इति वचनमपि न चारुतामञ्चति, क्लृप्तपदार्थाश्रयेणैव लघुगुरुकार्यकारणभावपक्षयोरुपस्थितौ लघुकार्यकारणभावस्यादरात्।

यथा मीमांसकमते साध्यव्याप्यो हेतुः, हेतुमान् पक्ष इति द्वयोर्ज्ञानयोर्वादिप्रतिवादिसम्मतयोरनुमितिं प्रति कारणता, नैयायिकनये च साध्यव्याप्तहेतुमान् पक्ष इति ज्ञानस्य वादिप्रतिवादिसम्मतस्यानुमितिं प्रति कारणतेति पक्षद्वयोपस्थितौ लाघवेन नैयायिकसम्मत एव कार्यकारणभावो मन्यते, तन्मते कार्यकारणतावच्छेदकगर्भे तत्तत्पुरुषाप्रवेशात् समवायसम्बन्धनानुमितिं प्रति तज्ज्ञानस्य हेतुताभ्युपगमेनान्यदीयात्तादृशज्ञानादन्यस्यानुमित्यापत्तेरसम्भवात्, मीमांसकमते नैकस्य व्याप्तिग्रहेऽन्यस्य पक्षधर्मताग्रहे, एकत्र हेतौ व्याप्तिग्रहे, अन्यहेतौ पक्षधर्म्मताग्रहे चानुमित्यापत्तिवारणाय तत्तत्पुरुषीयतत्साध्यपक्षहेतुकानुमितौ तत्तत्पुरुषीयतद्धेतुधर्मिकतत्साध्यव्याप्तिग्रहस्य तत्तत्पुरुषीयतत्पक्षधर्मिकतद्धेतुमत्ताग्रहस्य च हेतुताया अभ्युपगन्तव्यतया पुरुषभेदेन कार्यकारणभावानन्त्यप्रयुक्तगौरवाद् मीमांसकसम्मतः कार्यकारणभावस्त्यज्यते।

यथा वा अन्यधर्मितावच्छेदकयोग्यताज्ञानादपरधर्मितावच्छेदकशाब्दबोधापत्तिवारणाय कार्यकारणभावावच्छेदकगर्भे धर्मितावच्छेदकनिवेशस्याशक्यतया शाब्दबोधयोग्यताज्ञानयोरात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या कार्यकारणभावो धर्मितावच्छेदकभेदमूलकानन्त्यप्रयुक्तगौरवग्रस्तः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्मितावच्छेदकनिष्ठप्रत्यासत्त्या च तयोः कार्यकारणभाव एकपुरुषीययोग्यताज्ञानादपरपुरुषस्य शाब्दबोधापत्तिपरिहाराय तत्तत्पुरुषीयत्वगर्भोऽपि तत्तत्पुरुषातिरिक्तधर्माणां कार्यकारणभावावच्छेदकगर्भेऽप्रवेशेन लाघवललित इति आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या तयोः कार्यकारणभावमस्वीकृत्य धर्मितावच्छेदकनिष्ठप्रत्यासत्त्यैव तयोः कार्यकारणभावः स्वीक्रियते।

प्रकृते तु नैषा स्थितिः, अतिरिक्तात्मनो वादिप्रतिवादिभ्यामनभ्युपगतत्वेनानुभवसंस्कारस्मृतिषु कर्मादृष्टफलेषु च साक्षात् सामानाधिकरण्येन हेतुहेतुमद्भावपक्षः प्राप्त एव नास्ति, तत्प्राप्तये चानन्तानां विभुद्रव्यात्मकानां जीवानां कल्पना चातीव गौरवग्रस्ता। अतस्तेषु उक्तपरम्परासम्बन्धेन कार्यकारणभावात्मन एकमात्रपक्षस्यैव प्राप्ततया तदभ्युपगम एव न्याय्यः।

किञ्च अतिरिक्तात्मवादे 'अहं गच्छामि', 'अहं जानामि' इत्यादिप्रयोगेषु आख्यातार्थभेदकल्पनाप्रयुक्तमपि गौरवं दुर्वारम्। प्रथमस्थले कृतेः द्वितीयस्थले चाश्रयत्वस्य आख्यातार्थतायाः स्वीकार्यत्वात्। देहात्मवादे चोभयत्र आश्रयत्वमात्रस्यैव तदर्थत्वसम्भवात्। किञ्च चैत्रादिपदस्य शरीरगतचैत्रत्वादिजातिप्रवृत्तिनिमित्तकतया चैत्रादिपदार्थस्य शरीररूपतया 'चैत्रो गच्छति' इति वाक्येन चैत्रे गमनाश्रयत्वबोधोपपत्तिसम्भवेऽपि 'चैत्रो जानाति' इति वाक्यश्चैत्र ज्ञानाश्रयत्वबोधस्य अतिरिक्तात्मवादे दुर्घटत्वम्। 'ज्ञा'धातूत्तराख्यातस्य अवच्छेदकत्वमर्थमङ्गीकृत्य तद्वाक्यतो यथार्थशाब्दबोधोदयो नोपपादयितुं शक्यः, तथा सति ईश्वरीयज्ञानस्य नित्यतया अनवच्छिन्नत्वेन 'ईश्वरः सर्वं जानातीति' वाक्यार्थबोधस्यानुप- पत्तिप्रसङ्गात्। चैत्रादिपदानां स्वाश्रयत्व-स्वाश्रयावच्छेद्यत्वान्यतरसम्बन्धेन चैत्रत्वादिजातिप्रवृत्तिनिमित्तकत्वाभ्युपगमेन शरीरआत्मोभयपरतामभ्युपेत्य आख्यातस्य च आश्रयत्वार्थकतां स्वीकृत्यापि 'चैत्रो गच्छति' 'चैत्रो जानाति' इत्येतद्वाक्यार्थबोधो नोपपादयितुं शक्यते, 'चैत्रो न जानातीति' वाक्यार्थबोधस्य सत्वेऽपि 'चैत्रो जानातीति' बोधस्यापत्तिप्रसङ्गात्। प्रथमस्य शरीरमाश्रितत्य द्वितीयस्य चात्मानमाश्रित्य द्वयोरपि युगपदुत्पत्तिसम्भावात्।

देहात्मवादमाश्रित्य कश्चिदेवमाशङ्कते यत् संस्कारस्य स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धेन स्मृतिं प्रति कारणत्वे तेन सम्बन्धेन तस्य शरीरनिष्ठताया इव इन्द्रियनिष्ठताया अपि सत्त्वेन इन्द्रियेऽपि स्मृत्युत्पादापत्तिः, इन्द्रियेऽपि स्मृत्याश्रयत्वस्वीकारे ज्ञानाश्रयत्वेन तस्याप्यात्मत्वापत्तिः। परमियं शङ्का नोचिता, इन्द्रियदेहावयवादिव्यावृत्तेन स्वाश्रयविजातीयसंयोगेनैव संस्कारं प्रत्यनुभवस्य स्मृतिं प्रति च संस्कारस्य हेतुत्वोपगमेनोक्तापत्त्यसम्भवात्।

अत एव घटपटादिष्वपि मनस्संयोगसम्भवेन तत्रापि स्मृतेरुत्पत्तेः सम्भाव्यतया तेषामपि आत्मत्वापत्तिरित्यपि नाशङ्कितुं शक्यम्, कारणतावच्छेकसम्बन्धतयाऽभ्युपगतस्य मनोविजातीयसंयोगस्य तेष्वभावात्। समानकालीनत्वैकज्ञानविषयत्वादीनामपि स्वाश्रयसंयोगसमकक्षतया तत्सम्बन्धैरपि स्मृतिं प्रति संस्कारस्य हेतुत्वापत्त्या सम्पूर्णस्य जगत एवं ज्ञानाश्रयत्वेन आत्मत्वापत्तिशङ्का तु शङ्कितुः दुस्साहसमात्रसूचिका, अतिरिक्तात्मवादे मूर्तद्रव्यमात्रे आत्मनः संयोगसत्त्वेऽपि तत्समकक्षस्य समानकालीनत्वादिसम्बन्धस्यापि घटादिषु सत्त्वेऽपि यथा न घटाद्यवच्छेदेन आत्मनि ज्ञानोत्पत्तिः; अपि तु तत्तदात्मविजातीयसंयोगाश्रयतत्तद्देहावच्छेदेनैव ज्ञानोत्पत्तिर्भवतीति शरीरस्यैव ज्ञानाद्यवच्छेकत्वं न घट-पटादीनाम्, तथैव देहात्मवादे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मनस्संयोगस्य तत्तुल्यस्य सम्बन्धान्तरस्य च घटपटादिषु सत्त्वेऽपि न तत्र स्मृत्याद्युत्पत्तिः। किन्तु संस्काराश्रयमनसो विजातीयसंयोगाश्रये शरीर एव स्मृत्याद्युत्पत्तिः, इति तत्त्वस्य अनायास-वेद्यस्याज्ञानमूलकत्वादुक्तशङ्कायाः।

देहात्मवादमाक्षेप्तुकामः कश्चिदेवं ब्रूते यद् देहमनोभ्यां जीवात्मनो निराकरणप्रयासो देहमनसोरुभयोरात्मत्वाभ्युपगमे पर्यवस्यति। न चैवं स्वीकर्तुमर्हम्, देहस्यानित्यतया मनसश्च नित्यतया आत्मनि विरुद्धयोर्नित्यत्वानित्यत्वयोः समावेशप्रसङ्गात् कदाचिदहं नित्यः, कदाचिदहं नश्वर इत्यनुभवविरुद्धस्य प्रतीतिभेदस्य प्रसङ्गाच्च; परमिदं वचनं न चारु, गौतमेन 'इच्छाद्वेष प्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम्'[1] इति सूत्रेण आत्मलिङ्गतया उक्तानामिच्छादिज्ञानान्तगुणानां देहात्मवादे देह एव स्वीकारेण तत्रैव आत्मत्वस्य मनसि च तदाश्रयत्वमस्वीकृत्य धर्माधर्मभावना-मात्राभ्युपगमेनैव तदुपकरणत्वस्य स्वीकृत्या देहमनोभ्यां जीवात्मनो निराकरणप्रयासस्य देहमनसोरुभयोरात्मत्वाभ्युपगमपर्यवसायिताबुद्धेरनवधानमूलकत्वात्।

मनसोऽणुपरिमाणतया तस्य शरीरव्यापित्वाभावेन आनखशिखान्तं समग्रं शरीरं व्याप्य उत्पत्तिमत्त्वेनानुभूयमानाया बुद्धेः समग्रशरीरव्यापिनोऽतिरिक्तात्मनोऽस्वीकारे देहात्मवादे उपपत्तिर्न भवितुमर्हतीति शङ्कापि नोचिता, अतिरिक्तात्मवादे आत्ममनःसंयोगस्य एकदा शरीरस्य कस्मिंश्चिन्मनःसम्मिते भाग एव सत्वेऽपि यथा समग्रं शरीरं व्याप्य उत्पत्तिमत्तयाऽनुभूयमाना बुद्धिरुपपद्यते, तथैव देहात्मवादेऽपि तदुपपत्तिसम्भवे बाधकाभावात्।

आपामरसाधारणानुभवानुसारं मनोऽन्तरिन्द्रियम्। 'मनसा करोमि', 'मनसा अवधारयामि' इत्यादिप्रतीतिबलेन च करणमात्रम्, अतः करणमात्रस्य तस्यात्मत्वाभ्युपगमः सर्वलोकसिद्धस्यात्म-कर्तृत्वाभ्युगमस्य विरुद्ध इति शङ्कापि नोचिता, देहात्मवादे देहमात्रस्यैवात्मत्वम्, मनसश्च तदुपकरणत्वमात्रम्, नात्मत्वमिति पूर्वमेव स्पष्टीकृतत्वात्।

मनोगतस्यादृष्टस्य शरीरे चैतन्याधायकत्वस्वीकारे मृतशरीरे नियमतश्चैतन्याभावानुपपत्तिः, शरीरमरणोत्तरमपि चैतन्याधायकादृष्टविशिष्टमनसो विद्यमानत्वादिति शङ्का तु न सुलभावकाशा, शरीरस्य मरणकाल एव नियमेन तेन सह मनसः सम्बन्धविनाशस्यातिरिक्तात्मवादे शरीरस्य मरणकाल एव तेन सह आत्मनो विजातीयसंयोगविनाशस्येव जायमानत्वात्।

यदि शरीरमात्मा, तर्हि 'राहोः शिरः' इतिवद् 'मम शरीरम्' इत्यादि प्रयोगाणां भाक्तत्वेन कथञ्चित् समर्थनेऽपि अहं शरीरमित्येतादृशप्रयोगः कदापि कुतो न प्रवर्तते, इत्येष प्रश्नः दुरुत्तर इति कथनमपि नौचित्यमञ्चति, शब्दप्रयोगस्य शब्दार्थज्ञानाधीनतया अहं शरीरमिति ज्ञानाभावेन तादृशप्रयोगस्य प्रवृत्त्यभावात्। शरीरस्यात्मत्वे तादृशं ज्ञानमेव कुतो न जायते इत्यपि न शङ्कितुं शक्यम्, अहमर्थस्य स्वगतयोग्यगुणाश्रयेणैव ग्राह्यत्वनियमेन 'अहं स्थूलः', 'अहं कृशः', 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' इत्यादिरूपेणैव अहमाकारज्ञानस्य आनुभविकत्वेन अहं शरीरमित्याकारक-ज्ञानस्यातिरिक्तात्मवादे अहमात्मेति ज्ञानस्येवानुदयात्। अतिरिक्तात्मवादेऽपि अहमात्मेत्यनुभवस्य आपामरसाधारण्येन स्वीकरणं न सम्भवति, अन्यथा तस्य विवादविषयत्वानुपपत्तेः। अत एवोक्तं

---

1. न्या.सू. 1.1/10

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भावापरिच्छेदे विश्वनाथेन—'अध्यक्षो विशेषगुणयोगतः' योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानसुखादेः सम्बन्धेन आत्मनः प्रत्यक्षत्वं सम्भवति, नान्यथा।

क्षिप्तविक्षिप्तादिचित्तभूमिषु शरीरावयवेभ्यः समग्रात् शरीराच्च आत्मबुद्धेरपसारो देहात्मवादे समर्थयितुं न शक्यः, एषाऽपि चिन्ता निराधारा, देहात्मवादेऽपि तादृशीनां चित्तभूमीनां सम्भवेन तन्मूलकस्यात्मबुद्धेपसारस्य सम्भवे बाधकाभावात्।

'अहं वा न वेति' न कश्चित् सन्देग्धि, शरीरमात्मा वा न वेति विचारवन्तो मनीषिणोऽपि संशेरते, यदि शरीरमेवात्मा, तदा तत्रात्मत्वसन्देहे कुतो न कस्यापि 'अहं वा न वेति सन्देहः' इति प्रश्नोऽपि नोचितः, यतोऽतिरिक्तात्मवादे शरीरमनात्मेति निश्चयो देहात्मवादे च शरीरमात्मेति निश्चयः, अतो वादद्वय एवोक्तसन्देह आहार्यः, अहमाकारनिश्चयश्चानाहार्यः अतिरिक्तात्मवादे देहात्मवादे चोभयत्र समानः, स च 'अहं वा न वेति' संशयस्य विरोधी, अतः शरीरे आहार्यात्मसन्देहेऽपि अहमाकारनिश्चयस्य निर्बाधतया तत्प्रतिबन्धवशान्नोदेतुमर्हति तादृशः संशयः।

अत्रायमाशयो यद् अहमिति शब्दस्योच्चारणकर्तैव अहमर्थो भवति, अतोऽतिरिक्तात्मवादे अहमिति शब्दप्रयोक्ता अतिरिक्त आत्माऽहमर्थः, देहात्मवादे अहमितिशब्दप्रयोक्ता देहः अहमर्थः, उभयोरेव स्वस्वमतानुसारेण अहमर्थस्य अस्तित्वं निश्चितम्, अतः 'अहमस्मि वा न वेति' स्वरूपे पर्यवसायिनः 'अहं वा न वेति' संशस्य अहमस्मीति निश्चयप्रतिबध्यतया न तदुत्पत्तिसम्भवः, शरीरे आत्मत्वस्योक्ताहार्यसंशये सत्यपि अहमस्मीति निश्चयस्याक्षुण्णत्वात्।

शरीरमेव 'अहं शरीरं वा न वा' इति विमृशतीति कथनं देहात्मवादेऽतिविचित्रमिति वचनमपि देहात्मवादाक्षेप्तुर्न चारुतां धत्ते, यतोऽतिरिक्तात्मवादे 'अहं न शरीरम्' इति निश्चयः, देहात्मवादे च 'अहं शरीरम्' इति निश्चयः, अत उभयोरेव वादयोरुक्तविमर्शस्याहार्यत्वेन देहात्मवादे शरीरस्य 'अहं शरीरं वा न वा' इति विमर्शकर्तृत्वकथनं कुतो विचित्रमिति स एव वक्तुमर्हति।

अहमिति प्रतीतिः कदाचित् मूर्धतो जायते, कदाचित् तदीयमज्जातन्तुभ्यो जायते, अतो देहात्मवादे 'अहं मे मूर्धा मज्जातन्तवो वा' एतादृशानुभवस्योदयोऽनिवार्य इति कथनमपि न पाण्डित्यानुरूपम्, मूर्धादितो जायमानाया अपि प्रतीतेस्ततो भिन्ने देहाभिधे अवयविन्येवं विद्यमानतया तस्येवाहमर्थत्वाद् अहमर्थताया ज्ञानाश्रयत्वनियतत्वात्।

'अहम्' प्रतीतिरन्यसकलशरीरसुखदुःखादिप्रतीतिभ्यो नितरां भिन्नेति सर्वानुभवः, अतः शरीरतो मनस्तोऽपि भिन्नं किमपि तस्या अधिष्ठानमावश्यकमिति कथनमपि न मनीषानुरूपम्, केवलाया 'अहम्' इत्याकारायाः प्रतीतेरतिरिक्तात्मवादिभिरप्यस्वीकारात्। अहमितिशाब्दजबोधस्तु अहमुच्चारयितृनिष्ठो देहात्मवादे अहमुच्चारयितरि देहेऽधिश्रित इति कुतस्तस्या अधिष्ठानान्तरापेक्षेति दुर्ग्रहम्।

स्वप्नसदृशीषु कासुचित् चैतन्यावस्थासु बाह्यपदार्थानां स्वशरीरस्यापि च सत्यत्वं सन्दिग्धं तिरोहितं विपर्यस्तं प्रतिषिद्धं च भवदुपलभ्यते, परमात्मनः सत्यत्वं तथा भवन्नोपलभ्यते, यदि शरीरमेवात्मा, तदा तस्यापि सत्यत्वं कुतो न तादृशं भवदुपलभ्यते, एषा शङ्कापि निःसत्त्वा, सतां पदार्थानां सत्यतायास्तथाप्रतीतेर्भ्रमतया यादृशदोषजन्यत्वं तादृशदोषेणैव तत्काले शरीरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आत्मत्वबुद्धेः प्रतिबन्धेनात्मरूपतया शरीरस्य सत्यतायाः सन्दिग्धत्वाद्यसम्भवात्। सत्यं शरीरमेव आत्मा न तौ मिथोऽन्यौ, किन्तु चेष्टाश्रयत्वलक्षणं शरीरत्वं ज्ञानाद्याश्रयत्वरूपमात्मत्वं परस्परं भिन्नम्, उक्तासु चैतन्यावस्थासु तादृशप्रतीत्याधायकदोषवशान्न तदानीं देहे आत्मत्वबुद्धिः, किन्तु शरीरत्वस्यैव बुद्धिः, अतः शरीरत्वेन गृह्यमाणस्यै देहस्य सत्यत्वं सन्दिग्धत्वादिभाग्, न त्वात्मत्वेन गृह्यमाणस्येति विभावनीयम्।

शरीरात्मवादं विरोद्धुमुत्सहमानाः केचन साहसिनो वक्ष्यमाणोपमान् प्रश्नानुत्थापयन्त आत्मनः पण्डितप्ररूपतां प्रदर्शयितुं यतन्ते, यथा—

(1) समवायिकारणनाशे द्रव्यनाशस्यानिवार्यतया विषधरेण दष्टाङ्गुलेश्छेदे शरीरसमवायिनोऽङ्गल्यात्मनोऽवयवस्य नाशेन शरीरात्मनो नाशस्यावश्यम्भावेन विनष्टाङ्गुलेः पुंसः 'अहं मृतः' इति कुतो न प्रतीतिः?

(2) योऽहं पूर्वजन्मनि पुण्यमर्जितवान्, सोऽहं वर्तमाने जन्मनि सुखमनुभवामि, योऽहं पूर्वजन्मनि पापं संचितवान्, सोऽहमस्मिन् जन्मनि दुःखमनुभवामि। अहमस्मिन् जन्मनि पुण्यकर्म करोमि, येनाग्रिमे जन्मनि सुखी स्याम्, इत्येवं पूर्वापरजन्मनोरेक एवाहमर्थो मनुष्यैरनुभूयते। यदि शरीरमेवाहमर्थ आत्मा स्यात्, तदा विभिन्नयोः जन्मनोरेकस्य देहात्मनोऽभावेन कुतो नानुपपत्तिरुक्तानुभवस्य?

(3) शरीरस्यात्मत्वे कुतो नैषा प्रतीतिः, 'अहं शरीरम्' इति, कुतो 'मदीयं शरीरम्' इत्येवमेव प्रतीतिः, शरीरस्याहमर्थत्वे षष्ठीव्यपदेशस्य कथमुपपत्तिः?

(4) धर्माधर्मनिर्णयः श्रुतिसिद्धः, तदनुसारं मनसि धर्मादीनां कल्पनं कथं युज्येत, एतत्सन्दर्भे गोतमोक्तिश्च कथमुपपद्येत?

आग्नेयेष्टौ पठनीयेन मन्त्रेण निर्दिष्टः 'शरीरं ते पृथिवीं गच्छतु' इत्यर्थः कथं सङ्गच्छेत? शरीरस्यात्मत्वे 'ते' इत्यनेन तस्यैव वक्तव्यतया 'शरीरम्' इत्यनेन सह तदीयस्य भेदसम्बन्धस्य दुर्घटत्वात्, न्यायवार्तिकस्येदृशः सङ्केतः कथं युज्येत?

(5) देहप्राणमनोविज्ञानसुखेषु उत्तरोत्तरस्यातिप्रियत्वेन तत्प्राप्तये पूर्वपूर्वस्य त्यागदर्शनात् कथमौपनिषदस्यात्मनोऽपलापः शक्यक्रियः?

एषु प्रश्नेषु प्रथमस्य विषये वक्ष्यमाणं वेदितव्यम्—

सर्पेण दष्टाङ्गुलेश्छेदे सति साङ्गुलिशरीरात्मनो नाशे तदङ्गुलिहीनः खण्डशरीरात्मा जायते, तथा च यो देहात्मा नष्टः, अविद्यमाने तस्मिन् नोक्ता प्रतीतिरापादयितुं शक्या, प्रत्येतुरभावात्। यश्च खण्डदेहात्मा जातः, स न नष्ट इति तत्र मृतत्वस्य बाधेन न तत्राप्युक्ता प्रतीतिरापादयितुं युक्ता, अङ्गुलिहीनदेहात्मनो जाततया तस्य 'अहमुत्पन्नः' इति कुतो न प्रतीतिरित्यप्यापादनं न युक्तम्, उत्पत्तेरतीन्द्रियत्वात्, उत्पन्नस्य च प्रत्यक्षताया असन्दिग्धत्वात्। किञ्च कथितकल्पा प्रतीतिः देहातिरिक्तात्मवादेऽपि दुष्परिहरा, कृशत्वादेर्देहधर्मस्यात्मन्यारोपेण छिन्नदष्टाङ्गुलेः पुंसः 'अहं मृतः' इत्यादिप्रत्ययस्य सम्भवात्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

द्वितीयप्रश्ने तावदेवं विज्ञेयम्—

उक्तोऽनुभव उत्तरजन्मस्थेऽहमर्थे पूर्वजन्मस्थस्याहमर्थस्य नाभेदमवगाहते; किन्तु तत्सजातीयाभेदमवगाहते, साजात्यं च तयोरभिन्नमनस्कत्वेन, उक्तिरियं नैव न्यक्कर्तुमर्हा, 'सैवेयं दीपकलिका', 'सैवेयं गुर्जरी' इत्याद्यनुभवानां तथात्वस्य सर्वसम्मतत्वात्।

तृतीय प्रश्ने तावदित्थमवगन्तव्यम्—

अहमर्थस्य सर्वैः सुखादिमत्तयैवानुभूयमानतया यथाऽतिरिक्तात्मवादे 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' इत्यादिरूपैव प्रतीतिः, कृशत्वादेर्देहधर्मस्यारोपेण 'अहं कृशः' इत्यादिरूपेणैव वा प्रतीतिः सर्वानुभवसिद्धा, न तु 'अहं देहतो भिन्नः, अहमात्मा' इत्यादिरूपा, तथैव देहात्मवादेऽपि 'अहं सुखी' इत्यादिरूपैव प्रतीतिः, न तु 'अहं शरीरम्' इत्यादिरूपा, 'मम शरीरम्' इति षष्ठीव्यपदेश्या अहमर्थशरीरयोः सम्बन्धप्रतीतिश्च 'राहोः शिरः', 'ममात्मा' इत्यादिप्रतीतितुल्यतया न शक्यानुपपत्तिका।

चतुर्थे प्रश्ने तावदेवं विज्ञेयम्—

सत्यं धर्माधर्मनिर्णयः श्रुत्यधीनः, श्रुतिश्च धर्मादीनामात्मनिष्ठत्वप्रतिपादिका, किन्तु श्रुत्या धर्मादीनामाश्रयत्वेन प्रतिपाद्य आत्मा देह एव, तदन्यो वेति यदि चिन्त्यते, तदा तस्य देहरूपता प्रदर्शितयुक्तितत्या सिध्यन्ती न शक्यपरिहारा। एतत्सन्दर्भे गोतमोक्तिर्नान्धेन सत्ता चिन्त्या; किन्तु तर्कदृशैव दृश्या, तथा च सति तदुक्तेरुपपत्तिर्देहात्मवादेऽपि न दुर्घटा, किञ्च देहात्मा यदि युक्तिबलात् सिध्यति, तदा कस्याप्यन्यथावचनेन स न बाधितुं शक्यः, यथोक्तं गदाधरेण व्युत्पत्तिवादे—'न हि कस्यचिद् ग्रन्थकृतो विपरीतलेखनं युक्तिवलाद् वस्तुसिद्धौ बाधकम्'।

'शरीरं ते पृथिवीं गच्छतु' इत्यत्र च सप्राणदेहस्वरूप आत्मा सम्बोध्यः, तस्य निष्प्राणेन शरीरेण कथञ्चिद् भेदसम्बन्धः सूपपन्न एवेति, तत्रापि न काचिदनुपपत्तिः, अत्रार्थे न्यायवार्त्तिककृत्कृतसङ्केतोऽपि युक्ततां न त्यजति कथञ्चिदपि देहात्मवादे।

पञ्चमे प्रश्ने तावदित्थमवसेयम्—

अस्ति मनीषिणां मतिभेदः स्वरूपे औपनिषदस्यात्मनः। केचन तमणुम्, केचन विभुम्, केचनाद्वितीयम्, केचन सद्वितीयम्, केचन निर्धर्मकम्, केचन कर्तृत्वादिधर्मकम्, केचन ज्ञानानन्दात्मकम्, केचन ज्ञानानन्दाश्रयं मन्यन्ते। तथा च यथेमा अनेका मतयस्तद्विषये प्रवृत्ताः, तथैव ज्ञानसुखाद्याश्रयो धर्माधर्मसंस्काराश्रयेण मनसोपजुष्टो देह एवोपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मेत्यप्येका मतिः प्रवर्तते चेत् किं क्षीयते लोकस्य? अतो देहात्मवादे नापलापप्रसक्तिरौपनिषदस्यात्मन इति सुव्यक्तम्।

एतस्मिन् वादे च यत्र तत्र ग्रन्थेषु समुपलभ्यमानो देहिशब्दः, आत्मशब्दो जीवशब्दः, ईदृशोऽन्यो वा शब्दो मनःपरतया देहप्रवाहपरतया वा शक्यव्याख्यानतया न तादृशैर्वादस्यास्यापवादः स्वप्नेऽपि शङ्कार्हः।

देहात्मवादे शरीरस्य सुखसमृद्धिसम्पन्नतासम्पादनमेव परमः पुरुषार्थः, तदुपेक्षया लोककल्याणाय खेदस्वीकारे दृश्यमाना मानवप्रवृत्तिरस्मिन् वादे कथमुपपद्येत? अयं प्रश्नोऽपि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

देहात्मवादे न दुरुत्तरः, यतो यथा अतिरिक्तात्मवादे लोकप्रवृत्तिः प्रायेण स्वस्य सुखिताया निर्दुःखतायाश्च सम्पादनायैव भवति, कतिपयविवेकिनामेव च स्वसुखनिरभिलाषतापूर्वकं लोकहिताय खेदस्वीकारे प्रवृत्तिः भवति, तथैव देहात्मवादेऽपि तदुपपत्तौ न कश्चित् प्रत्यूहः, अतिरिक्तात्मवादी यथा स्वभिन्नानां हिताय स्वसुखाभिलाषं शिथिलीकृत्य प्रवर्तते, खेदं च सहते, तथैव देहात्मवादी अपि यदि सुशिक्षितः सुसंस्कृतो विवेकी, तदा स्वसुखे निरभिलाषः सन् स्वभिन्नानां देहात्मनां हिताय प्रवर्त्तिष्यत एव खेद सहिष्यत एव।

संसारेऽस्त्येव विपुलो देहात्मवादिवर्गः, यस्य सदस्येषु बहवो लोकहितायात्मनो महान्तं धनराशिमुत्सृज्य विद्यालयचिकित्सालयादीनां निर्मापणे आनन्दमनुभवन्ति। कश्चिद् विपश्चिदेवमाशङ्कते यद् देहात्मवादे अदृष्टभावनयोर्मनोनिष्ठत्वस्वीकारे सुषुप्तौ मनसः पुरीतत्यां प्रवेशे तत्काले श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्दुरुपादा स्यात्, अतोऽदृष्टाद्याश्रयस्यातिरिक्तात्मनः स्वीकार आवश्यकः, तत्सत्त्वे तत्प्रयत्नेन श्वासप्रश्वासयोर्गतिसम्भवात्। परमेषाऽपि शङ्का निर्जीवप्रायैव, त्वङ्मनःसंयोगस्य ज्ञानमात्रं प्रत्येव कारणत्वात्, सुषुप्तौ ज्ञानानुदयादेव तन्मूलकेच्छा-द्वेषादीनामनुदयस्य सूपपन्नत्वात्, जीवनयोर्नियत्नस्य श्वासादिगतिसम्पादकस्य ज्ञानानपेक्षतया जीवनादृष्टमात्रमूलकतया पुरीततितिस्थितस्यापि मनसो जीवनादृष्टजन्येन शरीरयत्नेन श्वासादीनां गत्युपापादनसम्भवात्।

देहात्मवादे आजीवनं मनुष्यस्य कर्मव्यापृतिर्नोपपद्यते। चरमे वयसि क्रियमाणानां तत्काल एव फलाजनकानां कर्मणां जीवने फलप्राप्तेरसम्भाव्यत्वात्, इत्यपि न शङ्कनीयम्, स्वतोऽधिकजीविनामुक्तकाले जनिष्यमाणानां च तादृशकर्मफलप्राप्त्यभिप्रायेण आप्राणान्तं कर्मव्यापृतेः सम्भवात्। मनुष्यः स्वसुखलाभायैव कार्यं कुरुते, इति न वक्तुं शक्यम्, लोकहितार्थमपि बहुषु कार्येषु मनुष्यस्य प्रवृत्तिदर्शनात्। यानि लोकहितावहानि कार्याणि कर्तुर्वर्तमाने जीवने तल्लाभाय न भवन्ति। तत्साध्यपुण्यस्य जन्मान्तरे फलाशयैव, तानि कार्याणि क्रियन्त इत्यपि न वक्तुं शक्यम्, वर्तमानजीवनान्तमेव स्वास्तित्वं मन्यमानैः जन्मान्तरे विश्वासरहितैरप्यनेकैराजीवनं क्रियमाणानां परैरेव प्राप्यलाभानां बहुवित्तव्ययायाससाध्यकार्याणां प्रत्यक्षसिद्धत्वात्।

शरीरं परार्थम्, सङ्घातरूपत्वात्, शय्यावत्, इत्यनुमानेन सिध्यन् परःशरीरभिन्न आत्मा न वाङ्मात्रेण युक्त्याभासजालेन वा निराकर्तुं शक्य इत्यपि वक्तुमनर्हम्, परार्थत्वस्य दुर्वचत्वात्, तथाहि परार्थत्वं यदि स्वभिन्नस्य भोगसाधनत्वम्, तदा दृष्टान्ते शय्यादौ तद् दुर्घटम्, स्वभिन्नतयोक्तानुमानात् पूर्वमात्मनो ग्रहीतुमशक्यत्वात् शरीरादेः ग्रहणे चातिरिक्तात्मवादे तदीयभोगाप्रसिद्धेः। परार्थत्वं यदि भोगानाश्रयत्वे सति भोगसाधनत्वम्, तदा पक्षे शरीरे हेत्वसिद्धिः अतिरिक्तावयविवादे शरीरस्य सङ्घातानात्मकत्वात्। यदि सङ्घातत्वं त्यक्त्वा जन्यत्वं हेतुरुच्येत, तदा व्याप्यत्वासिद्धिः, जडत्वस्योपाधित्वात्।

देहात्मवादे यागादिषु प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्यपि न वक्तुं युक्तम्, वर्तमानजीवन एव फलप्रदेषु पुत्रेष्ट्यादियागेषु प्रवृत्तौ बाधकाभावात्। ये यागाः स्वर्गफलकतया निर्दिष्टाः, तेष्वपि प्रवृत्तिर्नानुपपन्ना, यथावर्णितस्य स्वर्गस्य सर्वस्पृहणीयतया देहात्मवादिनामपि तत्कामनायाः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सम्भवेन तदर्थं तादृशयागेष्वपि प्रवृत्तिसम्भवात्। यदि देहात्मवादे सति देहे स्वर्गो न लभ्यते, मा लभ्यताम्, आनुषङ्गिकं लोकप्रशस्त्यादिफलं तु लभ्यत एव, उद्देश्यभूतं फलमपि कर्तृदेहस्थितमनः प्रवेशास्पदे उत्तरभाविनि देहे भवितैव, परेभ्यो लाभप्रदेषु कर्मस्वपि सहृदयानां प्रवृत्तिबाहुल्यस्य लोकसिद्धतया तादृशयागेष्वपि मानवप्रवृत्तिः सुघटैव।

देहात्मवादे पुनर्जन्म नोपपद्यत इत्यपि शङ्का नोद्भवयितुमर्हा, अतिरिक्तात्मवादेऽपि पुनर्जन्मनः समर्थनासम्भवात् स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसबंधरूपस्य जन्मनो नित्यात्मनो दुर्घटत्वात्, तदधिकरणस्य सर्वस्यैव क्षणस्य पूर्वपूर्वतदधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणतया तस्य स्वाधिकरण-क्षणध्वंसानधिकरणक्षणप्रसिद्धेः। यदि च नवोत्पन्नेन देहेन आत्मन आद्यो विजातीयः संयोग एव तज्जन्मत्वेनोपचर्यते, तदा तादृशो जन्मोपचारो मनोद्वारेण देहात्मवादेऽपि शक्योपपत्तिक एव, तद्वादे देहस्य तथा जन्माभावेऽपि तज्जन्यादृष्टविशिष्टमनसो भाविना नवेन देहेन सह तादृशसम्बन्धसम्भवात्।

देहात्मवादे बन्धमोक्षव्यवस्थाया अनुपपत्तिरपि नापादयितुं शक्या, शरीरान्तरभोग्य-फलौपयिकादृष्टजनककर्मकर्तृत्वमेव बन्धः, तदभाव एव मोक्षः, इत्येवं बाधमोक्षयोः निर्वचनसम्भवात्, तथा हि यस्मिन् देहे न देहात्मत्वस्वरूपतत्त्वस्य योगप्रभवः साक्षात्कार, स शरीरान्तरभोग्यफलौपयिकादृष्टजनकर्मकर्तृत्वाद् बद्धः, यश्च तादृशं तत्त्वं योगमहिम्ना साक्षात्कृत्य तादृशकर्मविमुखः, स मुक्तः। बद्ध इव मुक्तोऽपि यदि निरन्वयं नश्यत्येव, तदा कुतः कोऽपि देहो मुक्तये तत्त्वासाक्षात्काराय वैषयिकं सुखमुपेक्षत, इत्यपि न शङ्कनीयम्, अतिरिक्तात्मवादेऽपि मुक्तात्मनो मृतोपमतया तादृश्याः शङ्कायाः समुद्भवात्।

देहगतानुभवजन्यं संस्कारं देहकृतकर्मजन्यमदृष्टं च वहतो नित्यस्य मनसः सम्बन्धेन नवनवेषु देहेषु पूर्वपूर्वदेहैरनुभूतस्यार्थस्य स्मरणं कृतकर्मणां फलभोगं चोपपाद्य देहात्मवादस्थापनया न कोऽपि लाभ इत्यपि वचो नोचितम्, न्यायवैशेषिकनये नित्यानां विभूनामनन्तजीवान्तमनां स्वीकारेण तदपेक्षया देहात्मवादे बहुलाघवाद् अतिरिक्तात्मवादे च विभूनां नित्यानां च जीवात्मनामनन्तैर्मूर्त्तद्रव्यैः अनन्तैः कालक्षणैश्च सहानन्तसम्बन्धानां तदुपत्त्यादीनां च कल्पनीयतया बहुगौरवात्।

किञ्चातिरिक्तात्मवादे प्राणिनां पूर्वार्जितकर्मादृष्टतन्त्रतया स्वस्थितिपरिवर्तनेऽस्वातन्त्र्येण परैः क्रियमाणस्य शोषणस्योत्पीडनस्य च मौनभावेनाभ्युपगमो दुर्निवारः, विषमायाः सामाजिक्याः, आर्थिक्याश्च व्यवस्थायाः प्रजासुखसौविध्योदासीनस्य क्रूरस्य शासनतन्त्रस्य वा उन्मूलने शोषितस्य पीडितस्य च समुदायस्य प्रवृत्तिर्दुर्घटा; किन्तु देहात्मवादे नैष दोषः, यतो देहात्मवादे मनुष्यस्यैष बोधः सुकरो यत् स इदम्प्रथमतयोत्पन्नो नास्ति, तस्य किमपि पूर्वकृतमीदृशं कर्म, यदनुरोधात् तेन परैः क्रियमाणं शोषणमुत्पीडनं च स्वकर्मफलं मत्वा निष्क्रियभावेन सह्येत, फलतया देहात्मवादी समुदायः स्वस्थितिपरिवर्तने स्वतन्त्रतया प्रवर्तितुं शक्नोति, तथा प्रवर्तमानश्च न्यायपूर्णां परस्परहितावहां सामाजिकीमार्थिकीं शासनिकीं च व्यवस्थां सम्पाद्य सुन्दरतरं विश्वं निर्मातुं प्रभवति।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

देहात्मवादे स्वसुखस्यैव सर्वैः काम्यतया, मरणोत्तरं च स्वकर्मणामुत्तरदायित्वस्याभावेन निःशङ्कीभूय मनुष्यः स्वसुखार्थमेव प्रवर्तेत, परार्थं च न चेष्टेत, परोत्पीडनेनैव यदि स्वाभ्युदयः साध्यः, तदा ततोऽपि न विरमेत्, इत्यपि नाशङ्कनीयम् लोकहिताय सोढक्लेशानां मृतपुंसां लोके जायमानायाः सम्मानचर्चाया इतिहासग्रन्थेषु तेषां सबहुमानमुल्लेखस्य च दर्शनेन स्वसुखाभिलाषशिथिलीकरणपूर्वकलोकहितावहकर्मसु प्रवृत्तिसम्भवेनोक्तदुष्प्रवृत्त्यभिवृद्धिभयस्य निरवकाशत्वात् ।

देहात्मवादेऽपरोऽप्येको गुणोऽयमस्ति यन्मनुष्योऽनैतिकं कदाचारकलुषितं स्वार्थप्रधानं जीवनं यापयतां जनानां लोकनिन्दां वीक्ष्य मरणोत्तरं त्रुटिपरिहारस्यावसराभावेन वर्तमान-देहपातात्पूर्वमेवात्मनो जीवनं नैतिकं निर्दोषं च यापयितुं सचेष्टो भवितुमर्हति, अतिरिक्तात्मवादे च भाविनि जन्मनि वर्तमानजीवनस्य त्रुटीनां परिहारस्याववसरप्राप्तिसम्भावनया वर्तमानं जीवनं सांसारिकसुखोपभोगेन नेतुकामस्तादृशसुखार्थमपेक्षितायाः समृद्धेः सम्पादनाय अन्यायपूर्णे कर्मण्यपि प्रवर्तितुमर्हति, तदेवं देहात्मवादे जीवने नैतिकताप्रतिष्ठापनस्याधिकतरं सम्भाव्यमानतया एष वाद एव लोकमङ्गलायोपादेयतां धत्ते इत्यतीव सुस्पष्टम् ।

(भू.पू.) कुलपतिवरः
वाराणसेयसम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आचार्यबदरीनाथशुक्लाभिमतनव्यदेहात्मवादपरीक्षणम्

रांजारामशुक्लः

पण्डित राजाराम शुक्ल अपने इस लेख में बदरीनाथ जी की न्याय-दर्शन में देहात्मवाद की सम्भावना का परीक्षण करते हैं (बदरीनाथ जी का निबन्ध भी इसी अंक में साथ छपा है)। नव्यन्याय की जिस तर्क-प्रणाली का बदरीनाथ जी ने प्रयोग किया है ये उसी प्रणाली से बदरीनाथ जी के न्याय-दर्शन-सम्मत देहात्मवाद में दोषों की उद्‌भावना करते हैं।

बदरीनाथ जी ने अपने देहात्मवाद में न्याय-स्वीकृत मन को भी स्वीकार किया है। न्याय में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार, ये नौ गुण आत्मा के विशेष गुण माने जाते हैं। आत्मा द्रव्य है जिसमें ये गुण समवेत होते हैं। बदरीनाथ जी इन नौ गुणों को दो भागों में बांटते हैं : बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, इनको देह के सामान्य गुण कहते हैं, और धर्म, अधर्म, भावना (या संस्कार, जो स्मृति का बीज है), इनको मन के गुण। यों वे आत्मा को हटाने की सम्भावना का द्वार खोलते हैं। इसे सिद्धान्त-सिद्धि में एक महत् लाघव का अन्वेषण भी कहा जा सकता है—कम से कम तत्त्वों की स्वीकृति से उसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना। नैयायिकों को लाघव का मार्ग बहुत प्रिय भी है, बार-बार लाघव की दुहाई देते हैं।

राजाराम न्याय के तन्त्र और नव्यन्याय की तर्क-प्रणाली को साक्षी रख कर दिखाते हैं कि न्याय-सिद्धांत में ऐसी सम्भावना वास्तव में उभरती नहीं दिखती।

वन्दे तान् परमोदारान् तार्किकाग्रेसरान् गुरून्।
वेदाविरुद्धमर्थं ये तर्केण प्रत्यपीपदन्॥

भारतीयदर्शनानां मुख्यं प्रतिपाद्यं खल्वात्मतत्त्वम्। सर्वैरप्याचार्यैः शाश्वतत्त्वेनात्मतत्त्वं महत्याऽऽस्थया समाद्रतिम्। तच्चैतद् बोध्यते भगवत्या श्रुत्याऽपि 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा', 'अशरीरं वा वसन्तम्' इत्यांदिना, स्मृत्या चापि समर्थितम्—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो' 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इत्यादिभिर्वचनरत्नैः। शरीराद्यतिरिक्तत्वमात्मनः प्रतिपादयितुं प्रवृत्तैराचार्यैः शरीरमात्मेति कश्चन पूर्वपक्षः खण्डनायोपस्थापितः खण्डितश्चेति विदितमेव। सोऽयं पक्षश्चार्वाकमतमिति नाम्ना प्रसिद्धिं गत इति वदन्ति।

अयमसौ कश्चन पूर्वपेक्षया विलक्षणो देहात्मवाद आचार्यबदरीनाथशुक्लमहोदयैः प्रतिपादितः[1] इदानीं नव्यदेहात्मवाद इत्याख्यया प्रसिद्धिं गतोऽपि नाधिकं परिशीलितः समादृतो वा विद्वद्भिः। देह आत्मा इति शब्दश्रवणमात्रेण कोऽपि जुगुप्साभावः समुदेति विदुषां चेतसीत्यतो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वोपेक्षितः। श्रुतौ शरीरातिरिक्तस्यैवात्मनः प्रतिपादितत्वेन तत्प्रामाण्यरक्षाहेतुभूतस्य न्यायशास्त्रस्यापि[2] तत्रैव निर्भरः। सूत्रभाष्यादिष्वपि महता प्रबन्धेन शरीराद्यतिरिक्तत्वेनैवात्मा प्रतिपादितः। अतो न्यायशास्त्रे देहात्मवादस्य सम्भावनान्वेषणं साहसमात्रम्।

किन्तु न्यायशास्त्रीया या तार्किकी पद्धतिर्यत्र युक्तीनां महत्त्वमस्ति, तया पद्धत्या देहात्मवादव्यवस्थापनं सम्भवति न वेति विचारपरैः शुक्लमहाशयैः प्रयासोऽयं विहितः। यद्यपि तर्केणाप्यतिरिक्त एवात्मा साधितस्तार्किकैस्तथापि युक्तीनां निरवधित्वेन 'अभियुक्ततरै-रन्यैरन्यथैवोपपाद्यते' इति न्यायेन शुक्लमहाशयैः काश्चन युक्तयः प्रस्तुताः। एतद्युक्तिबलेन शरीरात्मवादे समागतानां केषाञ्चनाक्षेपाणां समाधने तैः प्रवृत्तं न पुनस्तद्विरोधिश्रुतिवाक्यसङ्गमने आत्मा व्यापारितः।

एद्विचारक्रमे न्यायशास्त्रीयसिद्धान्तान् परिरक्षितुमपि यथासम्भवं तैः प्रयतितम्। क्वचित्तु पुनः गत्यन्तरविरहेण ते सिद्धान्ता अनादृता अपि। अतः सर्वात्मनाऽयं वादो न्यायसिद्धान्ताविरोधीति वक्तुमशक्यम्। किन्त्वैतत्परिशीलनेनेदन्तु निश्चप्रचं यदयं वादः पूर्वविलक्षणो युक्तिमात्राश्रितश्च। अतः सिद्धान्तं व्यवस्थापयितुमिच्छद्भिरप्येतासां युक्तीनां परीक्षणमेव करणीयं तत्रैव च विप्रतिपत्तयः प्रदर्शनीयाः। परीक्षायामस्यामुभयपक्षतो बहु विवेचयितुं शक्यम्। अत्र तु पुनः सङ्क्षेपेण किञ्चिदेव प्रस्तूयते।

आत्मा नातिरिक्तद्रव्यं देहमनोभ्यामेव तत्साधनीयस्य निखिलप्रयोजनस्य निर्वर्तयितुं शक्यत्वादिति हि तेषां प्रतिज्ञावाक्यम्। यद्यपि देहात्मवादो मन आत्मवाद इति वादद्वयमपि प्रायः सर्वेषु वैदिकदर्शनेषु पूर्वपक्षित्वेन चर्चितं सयुक्ति खण्डितञ्च, तथाऽप्ययं ततो विलक्षणः कश्चिद् देहात्मवादः शुक्लमहोदयैरुपस्थापितो यत्र मनोऽधिष्ठितस्य शरीरस्यात्मत्वं व्यवस्थापितम्।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराख्या नव गुणा ये नैयायिकैरात्मविशेषगुणत्वेन स्वीकृतास्तेषामत्र द्विधा विभागः कृतः—योग्यगुणा अयोग्यगुणाश्चेति। तत्र बुद्धिसुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्ना योग्यास्ते च शरीरगुणाः। एवं धर्माधर्मभावना अयोग्या मनसो गुणाः। ज्ञानादीनां मनोगुणत्वे मनसोऽणुत्वेनाप्रत्यक्षतया तेषामप्यप्रत्यक्षतापत्तेः। तथैव धर्माधर्मादीनां देहगुणत्वे तेषां प्रत्यक्षतापत्तेः। अत ईदृशो विभागस्तैः स्वीकृतः।

अत्र ज्ञानादीनां देहगुणत्वे तैरयमाक्षेपः प्रस्तावितः—पार्थिवविशेषगुणानां द्विविधोत्पत्तिर्दृष्टा—कारणगतैः सजातीयगुणैः, यथा कपालरूपाद् घटरूपोत्पत्तिः, एवं पाकेन, यथा वैशेषिकनये परमाणुरूपं न्यायनये च घटादेरपि। तत्र देहे बुद्ध्यादिगुणस्वीकारे कारणगतैः सजातीय-गुणैस्तदुत्पत्तिः स्वीकरणीया। तथात्वे देहावयवेष्वपि बुद्ध्यादि स्वीकरणीयं भवेत्। तच्च देहावयवानां जडतया न सम्भवति।[3] अतो देहे बुद्ध्याद्युत्पत्तिर्न सम्भवति। नापि पाकेन तत्र बुद्ध्याद्युत्पत्तिः, यतो हि पाकजगुणाः सजातीयगुणध्वंसपूर्वका दृष्टाः। यथा घटे पाकजं रूपं श्यामरूपनाशपूर्वकं, तत्सत्त्वे तदनुत्पत्तेः। तच्च बुद्ध्यादेर्दुर्घटम्। इत्यमाशङ्क्य तैर्बुद्ध्यादीनां देहस्य सामान्यगुणत्वमङ्गीकृत्य दोषोऽयं वारितः। तथा हि पृथिव्याः सामान्यगुणा-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नामुत्पत्तावववयवगतसजातीयगुणानां पाकस्य वाऽपेक्षा नास्तीति देहे संख्यादेरिव बुद्ध्यादेरपि प्रकारान्तरेणोत्पत्तिः सम्भवत्येवेति।

अत्रेयमाशङ्का स्यात्—सामान्यगुणा अवयवगतसजातीयगुणसापेक्षा न भवन्तीत्युक्तम्। न चैतद्युक्तम्, घटपरिमाणस्य कपालपरिमाणजन्यत्वदर्शनात्। एवमेव शरीरपुस्तकसंयोगः करपुस्तकसंयोगजन्यः, घटगतगुरुत्वं कपालगतगुरुत्वजन्यमित्येवमादि।[4]

अत्र तेषामयमाशयः स्यात्—नह्यस्माभिः सामान्यगुणानां कारणगुणजन्यत्वं निषिध्यते, अपि तु पार्थिवविशेषगुणानामवयवगतसजातीयगुणजन्यत्वं नियम्यते। तथा च यत्र यत्र सामान्यगुणत्वं तत्र तत्रावयवगुणजन्यत्वमिति न व्याप्तिः, द्वित्वसंयागादौ व्यभिचारात्।[5] किन्तु यत्र यत्र पार्थिवविशेषगुणत्वं तत्र तत्र पाकावयवगुणान्यतरजन्यत्वमिति व्याप्तिरस्त्येव। तथा च बुद्ध्यादेः पार्थिवविशेषगुणत्वस्वीकारे उक्तव्याप्तिर्व्यभिचरिता स्यादतस्तेषां सामान्यगुणत्वाङ्गीकारः।

ततस्तैर्बुद्ध्यादेः शरीरस्य सामान्यगुणत्वाभ्युपगमे रूपादीनामिव[6] यावच्छरीरभावित्वमापादितम्। परिमाणादयः सामान्यगुणा यावद् द्रव्यभाविनो दृष्टाः, बुद्ध्यादयोऽपि चेत् सामान्यगुणाः, यावद् द्रव्यभाविनः स्युः। न चैवमस्ति, शरीरे विद्यमानेऽपि ज्ञानादेर्निवृत्तिदर्शनात्। तेषां विशेषगुणत्वाभ्युपगमे तु नेयमापत्तिः, शब्दो विशेषगुणोऽयावद् द्रव्यभावी दृष्टस्तथैव ज्ञानादिकमपीति। ततस्ते समादधति—शरीगतानां संयोगादिसामान्यगुणानामिव तद्गतानां बुद्ध्यादिसामान्यगुणानामपि शरीरसत्त्वे निवृत्तिसम्भवात्। तथा च सामान्यगुणत्वया-वद्द्रव्यभावित्वयोर्न व्याप्तिः संयोगादौ व्यभिचारादिति भावः।

अत्रेयं विप्रतिपत्तिः—न हि संयोगो व्यभिचारिदृष्टान्तत्वेनोपस्थापयितुं शक्यः, संयोगत्वेन संयोगस्य यावद्द्रव्यभावित्वमस्त्येव। अयावद्द्रव्यभावित्वं तु तत्तत्संयोगत्वेन, द्रव्ये संयोगसामान्याभावे मानाभावात्।[7] शरीरे विद्यमानेऽपि यथा ज्ञानसामान्याभावः स्थातुं शक्नोति तथा संयोगसामान्याभावो न स्थातुं शक्नोति, पूर्वदेशसंयोगे नष्टेऽप्युत्तरदेशसंयोगस्य सत्त्वात्। अत एव रूपस्य यावद्द्रव्यभावित्वकथनं सङ्गच्छते श्यामरूपनाशेऽपि रूपान्तरोत्पत्ते रूपसामान्याभावस्यासत्त्वात्। कथमन्यथा पाकजरूपस्ययावद्द्रव्यभावित्वेऽपि[8] रूपादीनामिवेत्यादिना रूपस्य यावद्द्रव्यभावित्वकथनं सङ्गच्छेत।

वस्तुतस्तु स्वसमवेतत्वे सति स्वसमानकालीनध्वंसप्रतियोगित्वमयावद्द्रव्यभावित्वम्। तच्च तत्संयोगव्यक्तेरेव। न तु तादृशप्रतियोगितावच्छेदकजातिमत्त्वं तादृशप्रतियोगितासमानाधिकरणगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं वा, अन्यथा तत्तत्संयोगव्यक्तिवृत्तितादृशप्रतियोगितासमानाधिकरणगुणत्वव्याप्यसंयोगत्वजातिमत् त्वेन संयोगत्वावच्छिन्नस्यायावद्द्रव्यभावित्वोपपत्तावपि पाकजरूपनिष्ठतादृशप्रतियोगितासमानाधिकरणगुणत्वव्याप्यरूपत्वजातिमतोऽपाकजरूपस्य, तद्वदेव नैमित्तिकद्रवत्ववृत्तितादृशप्रतियोगितासमानाधिकरणगुणत्वव्याप्यद्रवत्वत्वजातिमतः सांसिद्धिकद्रवत्वस्यापि यावद्द्रव्यभावित्वं न स्यात्। अत एव यत्र घटविशेषे रूपान्तरोत्पत्तिरेव न जाता तत्र पाकजमपि रूपं यावद्द्रव्यभाव्येव वक्तव्यम्। तथापि वेगनैमित्तिकद्रवत्वादयो व्यभिचारिदृष्टान्तत्वेनोपादातुं शक्यन्त एव।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किञ्चास्तु तावदेवम्, तथापि शरीरे ज्ञानसामान्याभावसम्भवेन तत्र शरीरत्व-व्यवहारेऽप्यात्मत्वव्यवहारो नोपपद्यते। न च समानो दोषः, मोक्षदशायां भवताऽपि ज्ञानसामान्याभाववत्त्वस्यात्मनि स्वीकारादिति वाच्यम्, न ह्यस्माकं ज्ञानवत्त्वेनात्मत्वप्रत्ययोऽपि तु ज्ञानसामान्याभावानधिकरणत्वेन ज्ञानसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वेन वा। तादृशस्य धर्मस्य मोक्षकालावच्छिन्नात्मन्यपि सत्त्वान्नास्माकमापत्तिः। शरीरत्वजातिमादाय भवता तथा स्वीकारे तु मृतशरीरे व्यभिचारः स्यादेव, मृतशरीरे आत्मत्वप्रतीतेर्भवताऽप्यसम्मतत्वात्। तस्मादगत्या ज्ञानावच्छिन्नत्वेनैव शरीरस्यात्मत्वं वक्तव्यं न तु शरीरत्वेन। तथा च ज्ञानावच्छिन्नशरीरे ज्ञानस्य यावद् द्रव्यभावित्वमस्त्येवेति तदापाद्य तन्निरसनप्रयासो व्यर्थ एव।

वस्तुतस्त्वेतन्नये मनोऽधिष्ठितशरीरस्यैवात्मत्वेन तादृशे शरीरे ज्ञानसामान्याभावो नास्त्येव। अथवा त्वक्संयुक्तमनोऽधिष्ठितं शरीरं ज्ञानाश्रयमिति, तेन सुषुप्तिकालेऽपि नापत्तिः।

यदि च ज्ञानव्यक्तिरिव न काऽपि संयोगव्यक्तिर्यावच्छरीरं तिष्ठतीति[9] युक्त एव संयोगस्य व्यभिचारिदृष्टान्ततयोपन्यास इत्युच्यते, तदाऽपि रूपस्य दृष्टान्तत्वेनोल्लेखो न युक्तः, पाकजरूपस्य सति द्रव्ये निवृत्तिदर्शनादिति।

ज्ञानादीनां विशेषगुणत्वाभावे प्रमाणान्तरं प्रस्तुवद्भिस्तैस्तेषां विशेषगुणलक्षणानाक्रान्तत्व-मुच्यते। विशेषगुणलक्षणं हि—द्रव्यविभाजकोपाधिविशिष्टजातिमद्गुणत्वमिति।[10] वैशिष्ट्यञ्च स्वाश्रयवृत्तितावच्छेदकत्वस्वानाश्रयवृत्तितानवच्छेदकत्वोभयसम्बन्धेन। गन्धस्य पृथ्वीविशेष-गुणत्वं यथा—द्रव्यविभाजकोपाधिः पृथ्वीत्वं, तद्विशिष्टा जातिर्गन्धत्वं, तत्र स्वाश्रयपृथ्वीवृत्ति-तावच्छेदकत्वस्य स्वानाश्रयजलवृत्तितानवच्छेदकत्वस्य च सत्त्वात्। तद्वत्त्वस्य च गन्धे-स्त्वाल्लक्षणसमन्वयः।

अत्र द्रव्यविभाजकोपाधिवैशिष्ट्यस्योक्तोभयसम्बन्धेन गुणत्वव्याप्यजातावेव सम्भवात् लक्षणे गुणत्वप्रवेशोऽनावश्यकः। यदि च तिर्यग्गमनं वायुमात्रनिष्ठं तदा तिर्यग्गमनत्वरूपजातिमादाय तत्र वायुत्ववैशिष्ट्यस्य सत्त्वेन तदाश्रयस्य तिर्यग्गमनस्यापि विशेषगुणत्वापत्तिवारणाय तद्देयमेव। अथवा स्वाश्रयकपालादिवृत्तितावच्छेकघटत्वादिजातिमादायातिव्याप्तिवारणाय तदावश्यकमिति। किन्तु वैशिष्ट्यनियामकद्वितीयसम्बन्धेनैव निर्वाहे स्वाश्रयवृत्तितावच्छेकत्वसम्बन्धः किम-भिप्रायेणेति विचार्यमेव।

एवं द्रव्यविभाजकजात्युक्तावाकाशत्वस्यापरिग्रहे शब्दस्य लक्षणाक्रान्तत्वं न स्यादत उपाधिपदम्। तादृशोपाधिविशिष्टोपाधिनिवेशे पृथ्वीत्वविशिष्टोपाधिपदेन गन्धसंयोगोभयत्व-स्यापि परिग्रहे तद्वत्त्वेन तादृशोभयत्वावच्छिन्नस्य, संयोगस्यापि वा विशेषगुणत्वप्रसक्तिरित्यतो जातिनिवेशः। अतीतानागतगन्धादेरपि विशेषगुणत्वव्यवहारसम्पत्तये जातिपर्यन्तानुधावनम्। अन्यथा स्वाश्रयवृत्तित्वस्वानाश्रयावृत्तित्वोभयसम्बन्धेन द्रव्यविभाजकोपाधिविशिटत्वे सति गुणत्वमित्येवालम्। प्रथमसम्बन्धमात्रोक्तौ संयोगादेरपि पृथ्वीत्वादिविशिष्टत्वसम्भवेन संयोगस्य विशेषगुणत्वापत्तिरतस्तन्निवेशः।

अस्तु, एतल्लक्षणानुसारं रूपत्वेन रूपं रसत्वेन रसो वा न विशेषगुणो लक्षणागमनात्। तादृशोपाधिविशिष्टजातिपदेन रूपत्वादिपरिग्रहो न सम्भवति स्वानाश्रयजलादिवृत्तितानवच्छेद-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कत्वाभावात्; अपि तु रूपत्वव्याप्यनीलत्वादिकम्, अनुष्णाशीतस्पर्शत्वव्याप्यपाकजन्यतावच्छेदकं वैजात्यम्, अभास्वरशुक्लत्वव्याप्यपाकजन्यतावच्छेदकं वैजात्यम्, मधुरत्वव्याप्यपाकजन्यतावच्छेदकं वैजात्यञ्च पृथ्वीत्वविशिष्टजातिपदेन धर्तव्यम्। तथा च—तादृशजात्याश्रया गन्धादयः पृथिव्या विशेषगुणाः। एवमेव शीतस्पर्शस्नेह सांसाद्धिकद्रवत्व-अपाकज मधुरादयो जलविशेषगुणाः। उष्णस्पर्श-भास्वरशुक्लादयस्तेजोविशेषगुणाः। अपाकजानुष्णाशीतस्पर्शो वायुविशेषगुणश्चः। शब्दो नभोविशेषगुण इत्येवं रीत्या विशेषगुणव्यवस्था।

अत्रायं विशेषो यद् धर्माधर्मभावना मनोमात्रनिष्ठा इति ते मनसो विशेषगुणा अङ्गीकृताः। बुद्ध्यादयस्तु शरीरनिष्ठा न ते विशेषगुणाः। तथा हि द्रव्यविभाजकोपाधिपदेन पृथ्वीत्वस्य परिग्रहे तदाश्रयवृत्तितावच्छेकत्वस्य ज्ञानत्वादौ सत्त्वेऽपि स्वानाश्रयजलीयतैजसादिशरीरवृत्तितावच्छेकत्वस्यैव ज्ञानत्वादौ सत्त्वाद् द्वितीयसम्बन्धाभावेन ज्ञानत्वादेर्न पृथ्वीत्वादिवैशिष्ट्यमिति तदाश्रयस्य ज्ञानादेर्न विशेषगुणत्वमिति।

अत्रेदं विचारणीयम्—पार्थिवविशेषगुणेषु तैः पाकजानुष्णाशीतस्पर्शस्योल्लेखः कृतः, किन्तूक्तलक्षणानुसारं पाकजस्पर्श एवालम्, तत्रानुष्णाशीतत्वविशेषणमनावश्यकम्। तथैव पाकजाभास्वरशुक्लं पार्थिवविशेषगुण इत्युक्तं, तत्रापि पाकजशुक्लमेवालम्। पाकजरूपमित्येव वास्तु। एवं पाकजरसत्वापाकजरसत्वाभ्यामपि च विशेषगुणत्वोपपत्तिः सम्भवति।

पाकजानुष्णाशीतस्पर्शत्वादीनां जातित्वमस्ति न वेत्यपि विचार्यमेव।[11] यदि च तन्तुद्वयसंयोगत्वादिकमपि[12] जातिस्तदा तस्या अपि निरुक्तोभयसम्बन्धेन पृथ्वीत्वविशिष्टतया तदाश्रयस्य तादृशसंयोगादेरपि विशेषगुणत्वापत्तिः। विजातीयेनैव तन्तुद्वयसंयोगेन पटोत्पत्तेः पटासमवायिजनकतावच्छेदिकायास्तन्तुद्वयसंयोगत्वजातेरङ्गीकारे बाधकाभावात्।

एवमपाकजानुष्णाशीतस्पर्शो वायुविशेषगुण इत्युक्तम्। किन्तु तादृशजातेर्वायुत्ववैशष्ट्यं न सम्भवति, वायुत्वानधिकरणे पटादावप्यापाकजस्यैवानुष्णाशीतस्पर्शस्य सत्त्वात् पटे पाकासम्भवात्। अत एव 'अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः'[13] इत्यात्रपाकजानुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वमात्रे लक्षणे कृते पटादावतिव्याप्तिमाशङ्क्य 'अपाकजानुष्णाशीतस्पर्शवन्मात्रवृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं', 'पाकजस्पर्शवदवृत्त्युष्णाशीतंस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं' वा तदर्थः कृतः।[14] पार्थिवपरमाणुमात्रे पाकसम्भवेन पटीयपरमाणुरूपस्य पाकजत्वात तेन तज्जन्यपटरूपस्यापि पाकजत्वं (पाकप्रयोज्यत्वं) निर्वहतीत्यप्याहुः।

एवं ज्ञानस्य पृथ्वीत्वाश्रय-पृथ्वीत्वानाश्रयोभयविधशरीरवृत्तित्वात्र विशेषगुणत्वमित्युक्तम्। तत्रापि विचार्यम्—पार्थिवजलीयादिषु सर्वेषु शरीरेष्वेकजातीयमेव ज्ञानमुत विजातीयम्? विजातीयञ्चेद्, ज्ञानादीनामपि विशेषगुणलक्षणक्रान्तत्वमस्त्येवेति।

ततस्तैर्बुद्ध्यादीनां शरीरगुणत्वे बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वमापाद्य बहिर्द्रव्यगुणग्राहकेन्द्रयत्वं बहिरिन्द्रयत्वमिति स्वीकृत्य मनसो बाह्यशरीरगुणग्राहकतया बहिरिन्द्रयत्वमेवेति स्वीकृतम्। शरीरान्तर्वर्तमानत्वाच्चान्तरिन्द्रियत्वव्यपदेशः। अथवा ज्ञानादीनां शरीरान्तर्भागावच्छेदेन वृत्तेस्तद्ग्रहणार्थमन्तरिन्द्रियस्यैवापेक्षा। बहिर्भागावच्छेदेन विद्यमानानां गुणानां बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वनियमः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अत्रेदं विचार्यं परिमाणादिव्याप्यवृत्तिगुणानां सर्वावयवावच्छेदेन वृत्तेस्तेषां किमिन्द्रियेण प्रत्यक्षं स्यात्? शरीरान्तर्भाविरूपरसादीनां मानसत्वञ्च कुतो न स्यादिति?

शरीरगुणानां रूपादीनां स्वीय-तदितरोभयेन्द्रियग्राह्यत्वमिव ज्ञानादीनामपि शरीरगुणत्वे स्वावच्छिन्नमनसेवान्यमनसाऽपि ग्रहणं स्यादित्यापाद्य तैरित्थं समाधीयते—इन्द्रियाणां सन्निकृष्टग्राह्यत्वनियमः। अन्यशरीरस्था रूपादयोऽन्येन्द्रियेण सन्निकृष्टाः सन्तो गृह्यन्ते न त्वसन्निकृष्टाः। किन्त्वेकशरीरान्तःस्थाज्ञानादयोऽन्यशरीरस्थेनाणुना मनसा न सन्निकृष्टा इति न तेन गृह्यन्त इति।

बाल्येऽनुभूतस्य स्थावरे स्मरणानुपपत्तिः, चैत्रेणानुभूतस्य मैत्रेण स्मरणापत्तिश्च तैरित्थं वार्यते—शरीरगतानुभवजन्यसंस्कारो मनस्युत्पद्यते, संस्कारं प्रत्यनुभवस्य स्वाश्रयविजातीय-संगोसम्बन्धेन कारणत्वस्वीकारात्। तथा च बालवृद्धयोः शरीरभेदेऽप्युभयत्रै- कस्यैव नित्यस्य मनसः सत्त्वेन तद्गतसंस्कारवशाद् वृद्धशरीरे स्मरणं सम्भवत्येव। स्मरणं प्रति संस्कारस्यापि स्वाश्रयविजातीयसंयोगसम्बन्धेन कारणत्वाङ्गीकारेण मनोनिष्ठसंस्कारेण वृद्धशरीरे स्मृति-सम्भवात्। अत एव चैत्रेणानुभूतस्य मैत्रेण स्मरणापत्तिरपि न, चैत्रीयानुभवजन्य-संस्कारवन्मनोविजातीयसंयोगस्य मैत्रशरीरेऽभावादिति। बालकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिरपि तत उपपद्यते। संयोगे वैजात्यकथनेन मनःसंयोगस्य शरीरेणेवेन्द्रियेण घटादिनाऽपि वा सम्भवेऽपि तत्र विजातीयसंयोगस्याभावेनेन्द्रियादौ न स्मृत्युत्पत्त्यापत्तिः।

अनुभवसंस्कारयोः संस्कारस्मरणयोश्चायं कार्यकारणभावोऽतिरिक्तात्मवादीयकार्यकारण-भावापेक्षया गुरुतरस्तत्रोभयत्र समवायसम्बन्धस्यैव कारणतावच्छेदकत्वात्।

यद्यपि शङ्केयं तैरित्थं वार्यते यत् क्लृप्तपदार्थाश्रयणेनैव लघुगुरुकार्यकारणभावोपस्थितौ लघुकार्यकारणभावस्यादरादिति, तथापि नैतदतिरिक्तात्मस्वीकारे युक्तितयोपन्यस्तम्। किन्तु प्रमाणान्तरैरतिरिक्तात्मसिद्धौ संस्कारोत्पत्तिर्मनस्यात्मनि वा कुत्र स्वीकरणीया? इति प्रश्ने लाघवगौरवचर्चेयम्।

स्वपक्षसमर्थने तैः 'इच्छाद्वेषसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्'[15] इति गौतमीयं सूत्रं प्रमाणत्वेन प्रस्तुतम्। ज्ञानेच्छाद्वेषसुखदुःखप्रयत्ना यत्र वर्तन्ते तत्रैवात्मत्वव्यवहार इति सूत्रार्थस्तैर्गृहीतः। तथा च तादृशगुणानामेतन्नये शरीरवृत्तितया तत्रात्मत्वव्यवहारः सूत्रसम्मतः। सूत्रे धर्माधर्मसंस्काराणामनुल्लेखान्न त आत्मगुणा इति।

किन्तु सूत्र इच्छादय आत्मलिङ्गत्वेनोक्ता न तु त एवात्मगुणा इति। शब्दस्याकाशलिङ्गत्वे न हि सङ्ख्यादय आकाशगुणा नेति वक्तुं युज्यते। तस्माद् धर्माधर्मादीनामनात्मगुणत्वं सूत्रसम्मतिमिति वचो न युक्तम्। धर्मादीनामतीन्द्रियत्वेन न तेषां लिङ्गत्वेन सूत्रे व्यपदेशः।

शेषमखिलमतिरिक्तात्मवादतुल्यं यथाकथञ्चिदुपपादितं वेति न तत्राधिकं विचार्यते। सारांशतो बुद्ध्यादीनां शरीरस्य सामान्यगुणत्वाङ्गीकार एव मुख्यं बलमस्य वादस्य।

अथेदमत्र किञ्चिदवधातव्यम्—बुद्ध्यादयो न सामान्यगुणाश्चक्षुरग्राह्यत्वे सति योग्यगुणत्वाद् रसवदित्यनुमानेन बुद्ध्यादीनां सामान्यगुणत्वाभावः सिध्यति। एवमपि ज्ञानादयो विशेषगुणा एकेन्द्रियग्राह्यत्वे सति गुणत्वाद् रूपवत्। योग्यसामान्यगुणानां द्वीन्द्रियग्राह्यत्वं दृष्टं यथा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संख्यादेः। यद्यपि द्वीन्द्रियग्राह्यस्याप्येकेन्द्रियग्राह्यत्वमक्षतं तथाप्येकमात्रेन्द्रियग्राह्यत्वमिति वक्तव्यम्। अथवा द्वीन्द्रियाग्राह्यत्वे सति योग्यगुणत्वं हेतुर्वाच्यः। एवं बुद्ध्यादीनां विशेषगुणत्वे सिद्धे—बुद्ध्यादयो न भूतविशेषगुणा बहिरिन्द्रयाग्राह्यात्वाद्, रूपं व्यतिरेकदृष्टान्तः। यद्यपि भूतविशेषगुणे परमाणुरूपादौ बहिरिन्द्रयग्राह्यत्वं नास्ति, तथापि बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व-समानाधिकरणगुणत्वव्याप्यजात्यभावस्य हेतुत्वे दोषाभावः।

यदि देहात्मवादोक्तरीत्या मनसोऽपि बहिरिन्द्रयत्वं स्वीक्रियते, तदा—बुद्ध्यादयो न पृथिव्यादिचतुष्टयविशेषगुणा अवयवगुणारम्भकत्वसमानाधिकरणगुणत्वव्याप्यजात्यभावाच्छब्द-वत्, अथवा बुद्ध्यादयो न स्पर्शवद्विशेषगुणा अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सत्यकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वाच्छब्दवदित्याद्यनुमानैस्तेषां पृथिव्यादिचतुष्टयविशेषगुणत्वाभावे सिद्धे नाप्याकाशविशेषगुणाः श्रोत्राग्राह्यत्वाद्रूपवत्, नापि दिक्कालगुणा विशेषगुणत्वात्, यद्यप्युक्तहेतुनैव मनोगुणत्वाभावोऽपि साधयितुं शक्यस्तथापि पूर्वपक्षिणा मनसो विशेषगुणवत्त्वस्य स्वीकृतत्वाद् हेत्वन्तरं प्रस्तूयते—

बुद्ध्यादयो न मनोगुणाः प्रत्यक्षत्वाद्रूपवदिति। एवं ज्ञानाद्याश्रयतयातिरिक्त आत्मा सिध्यतिं। एवमतिरिक्तात्मनि सिद्धे धर्माधर्मभावनाश्रयत्वस्य मनसि स्वीकरणमात्रं विशेषोऽवशिष्यते। तत्रापि कार्यकारणभूतयोरनुभवसंस्कारयोः संस्कारस्मृत्योश्च परम्परासम्बन्धेन सामानाधिकरण्य-कल्पनापेक्षया समवायेन संस्काराश्रयत्वस्याप्यात्मन्येव स्वीकारे लाघवम्। एवं धर्माधर्म-योर्ज्ञाननाश्यत्वात् तयोरप्यात्मन्येव स्वीकार उचित इति नात्र प्रतिपादितमतितरां युक्तमुत्पश्यामः।

तदे॰ हि ध्रुवं यत्तु श्रौतसिद्धान्तसम्मतम्।
साध्यं तदेव तर्केण नान्यत्तर्कप्रयोजनम्।।इति।

सन्दर्भ

1. 'न्यायशास्त्रीयविचारपद्धत्या देहात्मवादस्य सम्भाव्यता' इति शीर्षकान्वितः शुक्लमहोदयानां प्रबन्धः सारस्वत्यां सुषमायां प्रकाशितः, सारनाथे न्यायपरिचर्चायां विचारितश्च।
2. न्यायविस्तरस्तु मूलस्तम्भः सर्वविद्यानां वेदप्रामाण्यरक्षाहेतुत्वात्—न्यायमञ्जरी।
3. किन्नाम जडत्वं? कुतश्च तद् देहावयवेष्वस्ति? अवयविनि देहे च नास्तीत्यादिकं तैः किमपि न स्पष्टीकृतम्।
4. अपाकजास्तु स्पर्शान्ता द्रवत्वञ्च तथाविधम्।
   स्नेहवेगगुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणकम्॥
   स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवा॥ (कारि, का.सं. 95-96)
5. द्वित्वादयः परार्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः॥ (कारि., का.सं. 107)
   संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैते तु कर्मजाः॥ (कारि, का.सं. 97)
6. अत्र परिमाणादीनामिवेति वक्तव्यमासीत्, रूपस्य विशेषगुणत्वात्। अथवैतन्मते रूपत्वेन रूपं न विशेषगुणः। स्पष्टमेतदग्रे।
7. सिद्धान्तलक्षणदीधितिः।
8. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. 249
9. शरीराकाशसंयोगविषये चिन्तनीयम्;

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

10. तादृशजातिमत्त्वे सति गुणत्वमित्यर्थः।
11. विजातीयस्पर्शजनकतावच्छेदकतया वायुत्वजातिः साध्यते—मुक्ता. का.सं. 42
12. तूलकादिपरिमाणजनकतावच्छेकं प्रचयत्वमपि बोध्यम्।
13. कारि. का. 42
14. तत्रैव दिनकर्याम्
15. सू.सं. 1-1-10

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत् दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्विमर्श

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य 175.00

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

(शंकर-पुरस्कार से सम्मानित)

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्र्य। परिशिष्ट : लोकसाधन।

मूल्य 200.00

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

विषय-सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्धु का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00

आवश्यक सूचना — निजी क्रेताओं के लिए छूट की दर अब 20% होगी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection